वर्ष 1/अंक 3/ अगस्त 2020

मुंबई विद्यापीठ

हिंदी संभाषण

मुंबई विश्वविद्यालय मुक्त प्रवेश आंतर्विद्याशाखीय पूर्व-समीक्षित शोध पत्रिका

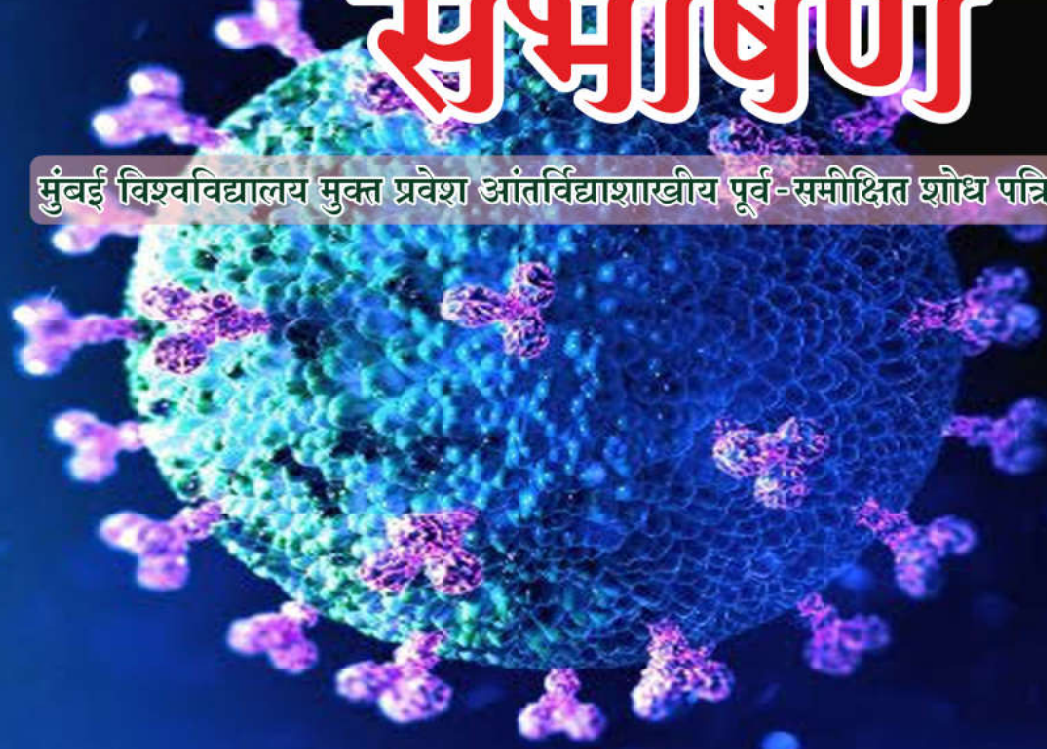

करोना समय में साहित्य, समाज और संस्कृति

हिंदी

संभाषण

मुंबई विश्वविद्यालय मुक्त प्रवेश
आंतर्विद्याशाखीय पूर्व-समीक्षित
शोध पत्रिका

करोना समय में साहित्य, समाज
और संस्कृति

अधिष्ठाता, मानविकी, मुंबई
विश्वविद्यालय द्वारा प्रस्तुत।

''एक आदर्श समाज में अनेक अभिरुचियाँ सचेतन स्तर पर संप्रेषित और साझा की जाती हैं...दूसरे शब्दों में '*सोशल एन्डोस्मोसिस' अत्यावश्यक है।''

भारतरत्न डॉ. बाबासाहब आंबेडकर

*(*सामाजिक अंतराभिसरण)*

रूपरेखा

- प्रतिष्ठित विचारकों, प्राध्यापकों, शोधार्थियों तथा दुनिया भर के विविध संस्थानों के रचनाकारों के सार्थक योगदान के लिए यह शोध पत्रिका एक खुला मंच है।
- अकादमिक मानदंडों के अनुरूप शोध-प्रपत्र विद्वतापूर्ण, तर्कसंगत, आलोचनात्मक, सृजनधर्मी, विश्लेषणात्मक निगमनात्मक स्वरूप के हो सकते है।
- टिप्पणियाँ, टीकाएँ अथवा समीक्षाएँ भी प्रस्तुत की जा सकती हैं।
- विशेषज्ञ समिति द्वारा पूर्व समीक्षित रचनाएँ ही प्रकाशित की जाएँगी।
- कतिपय अंकों हेतु शोध-प्रपत्र आमंत्रित किए जाएँगे यद्यपि अधिकांश अंकों हेतु शोध-प्रपत्र मँगवाए जाएँगे।
- प्रसंगानुसार कतिपय अंक विशेषांक होंगे।

शोध-प्रपत्र प्रस्तुति हेतु दिशानिर्देश

- शोध-प्रपत्र मौलिक, विद्वतापूर्ण, सृजनात्मक तथा समीक्षात्मक समुचित संदर्भों सहित हों।
- शोध-प्रपत्र की शब्द सीमा 3500-4000 शब्दों की तथा समीक्षा की शब्द सीमा 1500-2000 होगी।
- शोध-प्रपत्र देवनागरी लिपि में आकृति अथवा यूनिकोड में 12 फॉन्ट आकार में हों।
- लेखक-तिथि संदर्भ-प्रणाली हेतु परिशिष्ट में दी गई सूचनाओं का पालन करें।
- शोध-प्रपत्र के साथ एक सत्यापन प्रमाण पत्र प्रस्तुत करें कि यह कृति मौलिक, अप्रकाशित तथा साहित्यिक चोरी से दोषमुक्त है।
- शोध-प्रपत्र, टिप्पणियाँ अथवा पुस्तक समीक्षाएँ बहुधा गोपनीय विशेषज्ञ समिति की सकारात्मक प्रतिक्रियाओं के अधीन होंगी।

प्रकाशक

अधिष्ठाता, मानविकी संकाय, कार्यालय,
मुंबई विश्वविद्यालय, आंबेडकर भवन,
विद्यानगरी परिसर मुंबई - 400 098.

हिंदी संभाषण में समाजशास्त्रीय एवं मानविकी विद्याशाखाओं की समकालीन समस्याओं पर आंतर्विद्याशाखीय चिंतन एवं शोध-प्रपत्र स्वीकारे जाएँगे।

संपादन मंडल

मानद संपादक
प्रोफेसर राजेश खरात
अधिष्ठाता
मानविकी संकाय
मुंबई विश्वविद्यालय

संपादक
प्रोफेसर हूबनाथ पांडेय
हिंदी विभाग
मुंबई विश्वविद्यालय

रिव्यू संपादक
डॉ. मुइज़्ज़ा काज़ी दलवी
अध्यक्ष, उर्दू विभाग
मुंबई विश्वविद्यालय

सह संपादक
डॉ. भाग्यश्री वर्मा
सहयोगी प्राध्यापक
अंग्रेज़ी विभाग
मुंबई विश्वविद्यालय

डॉ. अभय दोशी
सहयोगी प्राध्यापक
गुजराती विभाग
मुंबई विश्वविद्यालय

डॉ. श्यामसुंदर पांडेय
विजिटिंग प्रोफेसर
हिंदी विभाग
तोक्यो यूनिवर्सिटी ऑफ फॉरेन स्टडीज़
तोक्यो, जापान
सहयोगी प्राध्यापक
हिंदी विभाग
विड़ला महाविद्यालय
कल्याण, महाराष्ट्र

डॉ. अनिल ढवले
अध्यक्ष, हिंदी विभाग
जोशी बेडेकर महाविद्यालय
ठाणे, महाराष्ट्र

सलाहकार संपादक
प्रोफेसर रतनकुमार पांडेय
पूर्व अध्यक्ष, हिंदी विभाग
मुंबई विश्वविद्यालय

प्रकाशन सहयोग

पृष्ठ संयोजन
श्री शकील अहमद
वरिष्ठ अनुवादक एवं
तकनीकी भाषाविद
श्री सत्यवान राणे

श्री राजेश कुमार यादव
टंकण एवं मुद्रण
विद्यापीठ प्रकाशन, मुंबई

प्रूफ पठन
कु. सायली पवार
शोधार्थी, हिंदी विभाग
मुंबई विश्वविद्यालय

कु. पुष्पा चौधरी
शोधार्थी, हिंदी विभाग
मुंबई विश्वविद्यालय

प्रकाशक
अधिष्ठाता, मानविकी संकाय
मुंबई विश्वविद्यालय

हिंदी संभाषण में प्रकाशित विचार लेखकों की शोधवृत्तियों से उपजे निजी विचार हैं।

संपादकीय

एक भयावह दु:स्वप्न सरीखा गुज़र रहा है वक़्त। हर सुबह मरनेवालों की एक नई संख्या डराती हुई। संक्रमितों की तादाद में निरंतर बढ़ोत्तरी, तो ठीक होनेवालों की भी अच्छी खासी संख्या जो उम्मीद तो दिलाती है पर डर है कि कम नहीं होता। तिस पर कई राज्यों में भीषण बाढ़ ने रही सही कसर भी पूरी कर दी। मँहगाई आसमान छू रही है। जीवनावश्यक वस्तुओं के दाम बेतहाशा बढ़ रहे हैं। पेट्रोल, डीज़ल की तो बात ही न पूछो! महामारी के इस भयावह दौर में कहा जा रहा है कि अपनी रोग प्रतिकारक शक्ति में इज़ाफा करें! पौष्टिक भोजन लें। भोजन में प्रोटीन और विटामिन-सी की भरपूर खुराक लें। हमारे देश में प्रोटीन का सर्वजन सुलभ स्रोत है दालें। जिन्हें खरीदने की औकात कितनों की है, जबकि आबादी का अच्छा खासा प्रतिशत ग़रीबी रेखा के नीचे जीता है। दूध-दही का तो नाम लेना भी दुश्वार है। ऐसे हालात में सब कुछ भगवान भरोसे चल रहा है, ऐसा कहने में कोई हर्ज़ नहीं। इस वक्त जब यह संपादकीय लिखा जा रहा है, हमारे देश में करोना से कुल 63,893 लोगों की मौत हो चुकी है। 35,70,733 लोग संक्रमित हो चुके हैं जिनमें 77,1470 एक्टिव केसेज हैं और 27,34,783 लोग इस महामारी से ठीक हो चुके हैं। यह आँकड़ा 30 अगस्त 2020 शाम के 07:39 मिनट का है। यहाँ यह मुद्दा भी विचारणीय है कि इस वर्ष की पहली तिमाही में हमारे देश में सिर्फ टीबी से मरने वालों की संख्या 20,000 थी तब तक करोना से मात्र 15,000 मौतें हुई थीं। 2019 में सिर्फ टीबी से कुल 79,000 मौते हमारे देश में हो चुकी हैं। यहाँ यह भी गौर करने की बात है कि टीबी का अप्रत्यक्ष संबंध पौष्टिक भोजन से भी है। फ़िलहाल सरकार सभी ग़रीबों को मुफ्त अनाज देने का प्रयास तो कर रही है। इस महामारी ने हमारी स्वास्थ्य व्यवस्था की पोल खोल दी है और जो सच सामने आया है वह डरा देनेवाला है। शिक्षा की ही तरह स्वास्थ्य सेवाओं में भी मँहगे और पंचतारांकित अस्पतालों की भूमिका पर प्रश्न उपस्थित किए गए। सरकार के बारबार चेताने के बावजूद मँहगे अपस्तालों ने अपनी आदतों में संतोषजनक परिवर्तन नहीं किए।

हिंदी संभाषण का प्रस्तुत अंक 'करोना समय' पर केंद्रित है। अगस्त हमारी आज़ादी का महीना है। 74 वर्षों पहले इसी महीने की 15 तारीख को पं.जवाहरलाल नेहरू ने नियति से मुलाक़ात की जो बात की थी और जो सपना देखा था और जिस तरह के राष्ट्र निर्माण की बात की थी वह पूरी तरह साकार नहीं हो पाया। उसी की स्मृति में अंक का आरंभ उनके ऐतिहासिक भाषण से किया जा रहा है। यह वर्ष भारत के पहले प्रखर राजनीतिज्ञ बाळ गंगाधर टिळक का पुण्यतिथि शताब्दी वर्ष है। 1 अगस्त 1920 को मुंबई में उनका निधन हुआ था और भारतीय स्वाधीनता संग्राम का एक महत्त्वपूर्ण अध्याय समाप्त हुआ था। उनका एक महत्त्वपूर्ण भाषण इस संदर्भ में बेहद प्रासंगिक है। लोकशाहीर अण्णाभाऊ साठे की विद्रोही चेतना और

प्रखर राजनीतिक विचारों से हम सभी परिचित हैं। यह उनका जन्मशताब्दी वर्ष है अत: उन्हें श्रद्धांजलि स्वरूप एक परिचयात्मक आलेख इस अंक में शामिल किया जा रहा है।

अन्य सभी लेख करोना समय में साहित्य, समाज और संस्कृति पर केंद्रित हैं। यहाँ एक उल्लेखनीय तथ्य यह है कि केरल में इस वक्त तक 288 लोगों की करोना महामारी से मृत्यु हुई जबकि महाराष्ट्र में 24,103 को अपनी जान से हाथ धोना पड़ा। इन दो राज्यों के इस भारी अंतर को देखें तो पता चलता है कि केरल में जनस्वास्थ्य व्यवस्था बेहद चुस्त और परंपरागत रही है। आयुर्वेद और होम्योपैथी का जितना प्रचलन केरल में है उतना किसी और राज्य में नहीं है। केरल के गाँवों में आज भी आयुर्वेद का महत्त्व अक्षुण्ण है जबकि पढ़े-लिखों की संख्या केरल में सबसे अधिक है फिर भी वे एलोपैथी के पीछे पागलों की तरह नहीं भागे। एलोपैथी की अपनी महत्ता और अपनी सीमाएँ हैं जिसका हमारे देश में इतिहास डेढ़ सौ वर्षों से अधिक पुराना नहीं है जबकि आयुर्वेद की परंपरा हजार वर्ष पीछे तक जाती है। ऐसे में कहीं हम अपनी जड़ों से कटने का ख़ामियाज़ा तो नहीं भुगत रहे? ऐसा सवाल उपस्थित होता है जिसकी ऐतिहासिक छानबीन के.एन.पणिक्कर के लेख में की गई है। डॉ. सुचिता कृष्णप्रसाद ने करोना समय में महिला श्रम की एक नई व्याख्या प्रस्तुत की है तो डॉ. हिमांशु चतुर्वेदी ने महामारी के ऐतिहासिक संदर्भों को उद्घाटित किया है। श्रेयांश दोशी ने डॉ. अभय दोशी के साथ मिलकर करोना के आयुर्वेदिक पक्ष की पड़ताल की है तो डॉ. कृष्णकुमार मिश्र ने विटामिन-सी के महत्त्व पर प्रकाश डालते हुए करोना समय में इसकी आवश्यकता पर बल दिया है और जब भी कोई बड़ी समस्या हमारे सामने आती है तो एक बार हम ज़रूर सोचते हैं कि यदि इस अवसर पर गांधी होते तो क्या करते! गांधी ने अपने जीवन में दक्षिण अफ्रीका में एक महामारी की भयावहता का अनुभव किया था। आज वे होते तो क्या करते, इसकी बेहद मार्मिक और तार्किक प्रस्तुति हुई है डॉ. अभय बंग के लेख में। कई और पक्ष थे इस महामारी के जो इतने अल्पकाल में संभव नहीं हो पाए किंतु आनेवाले समय में इस विषय पर महत्त्वपूर्ण जानकारियाँ अवश्य ही साझा की जाएँगी। हिंदी संभाषण की इस तीसरी प्रस्तुति में हमेशा की तरह माननीय कुलपति एवं आदरणीय उपकुलपति का स्नेहाशीष मिलता रहा है। अधिष्ठाता मानविकी संकाय के कुशल नेतृत्व में हिंदी संभाषण का संपादकीय मंडल अकादमिक क्षेत्र में अपनी सार्थक भूमिका निभाता रहेगा, इसी विश्वास के साथ,

जयहिंद!

-संपादन मंडल

अनुक्रमणिका

◆ *धरोहर*

नियति से मुलाक़ात 11

— *पं. जवाहरलाल नेहरू*

◆ *पुण्यतिथि शताब्दी स्मरण*

स्वराज्य मेरा जन्मसिद्ध अधिकार है 14

— *बाळ गंगाधर टिळक*

◆ *जन्मशती स्मरण*

लोकशाहीर अण्णाभाऊ साठे 19

— *डॉ. मंगेश वनसोड*

◆ *आलेख*

देशी आयुर्वेज्ञान और सांस्कृतिक वर्चस्व 29

— *डॉ. के.एन.पणिक्कर*

◆ आज गांधी होते तो क्या करते ? 50

— *डॉ. अभय बंग*

◆ विटामिन-सी 58

— *डॉ. कृष्णकुमार मिश्र*

◆ महामारी! भारतीय स्त्रियों के हितों पर प्रभाव 66

— *डॉ. सुचिता कृष्णप्रसाद*

◆ करोना का आयुर्वेदिक पक्ष 74

— *श्री. श्रेयांश दोशी*

◆ महामारी एवं संस्कृतियों- सभ्यताओं पर प्रभाव 81

— *डॉ. हिमांशु चतुर्वेदी*

◆ *काव्य-दृष्टि*

अंत्येष्टि – टी.एस. एलियट 87

— *डॉ. भाग्यश्री वर्मा*

◆ *किताबनामा*

दुनिया इन दिनों 96

— *डॉ. अभय दोशी*

धरोहर

नियति से मुलाक़ात

● पं. जवाहरलाल नेहरू

बहुत साल पहले हमने नियति से मुलाकात तै की थी और अब समय आ गया है कि हम अपने वचन को पूरा करें- पूरी तरह से तो नहीं, मगर काफ़ी हद तक। ठीक अर्द्ध रात्रि के समय, जब दुनिया सो रही होगी, भारत जीवन और आज़ादी में जागेगा। एक पल ऐसा आता है, जो इतिहास में विरले ही आता है, जब हम पुराने से नए में कदम रखते हैं, जब एक युग समाप्त होता है और जब एक लंबे समय से दबे राष्ट्र की आत्मा को अभिव्यक्ति मिल जाती है। इस गंभीर क्षण में भारत, उसकी जनता और उससे भी बड़े उद्देश्य मानव जाति की सेवा के प्रति समर्पित होने की शपथ लेना उपयुक्त है।

इतिहास की भोर में ही भारत ने अपनी अंतहीन खोज आरंभ कर दी थी और अनभिलिखित शताब्दियाँ, उसके प्रयासों तथा उसकी सफलताओं व असफलताओं के वैभव से भरी हुई हैं। अच्छे और बुरे दोनों समय में उसने कभी अपने खोज से नज़र नहीं हटाई और न उन आदर्शों को भुलाया, जो उसे शक्ति प्रदान करते हैं। आज हम दुर्भाग्य की एक अवधि का अंत करते हैं और भारत फिर से ख़ुद को जानने की ओर अग्रसर है। आज हम जिस

उपलब्धि का उत्सव मना रहे हैं, वह केवल एक चरण है। जो व्यापक सफलताएँ और उपलब्धियाँ हमारा इंतज़ार कर रही हैं, उनका अभी केवल द्वार खुला है। क्या हम इतने बहादुर एवं बुद्धिमान हैं कि इस अवसर को झपट लें और भविष्य की चुनौती को स्वीकार कर लें?

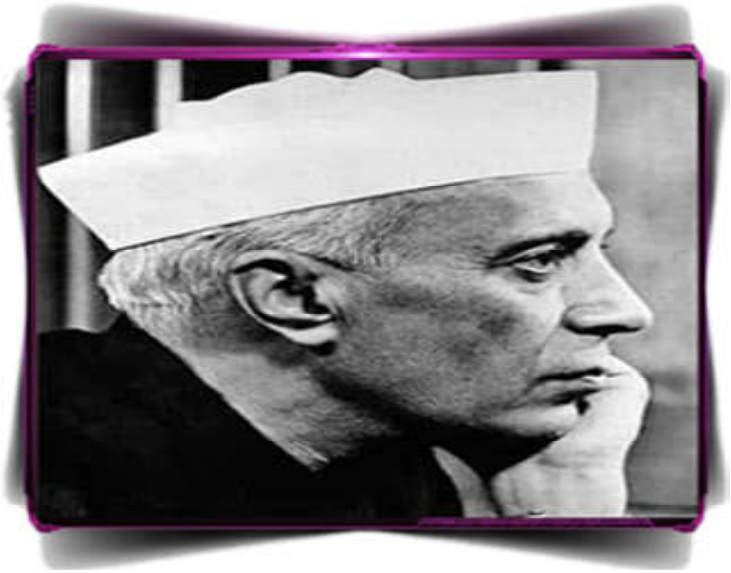

आज़ादी और सत्ता अपने साथ ज़िम्मेदारियाँ लाती है। यह ज़िम्मेदारी भारत की सार्वभौम जनता की प्रतिनिधि संस्था, इस सभा की है। आज़ादी के जन्म से पहले की प्रसव-पीड़ा को हमने सहा है और उस दुख की याद से हमारे मनों पर बोझ है। उनमें से कुछ पीड़ाएँ अब भी मौजूद हैं। फिर भी, भूतकाल गुज़र चुका है और वह भविष्य है, जो अब हमें पुकार रहा है।

वह भविष्य आसान या आरामदायक नहीं बल्कि अथक परिश्रम का होगा, ताकि हम उन वचनों को पूरा कर सकें, जो हमने अक्सर लिए हैं और आज भी लेने जा रहे हैं। भारत की सेवा का मतलब है-करोड़ों पीड़ितों की सेवा। उसका मतलब है- ग़रीबी, अशिक्षा, बीमारी और अवसरों की असमानता को समाप्त करना। हमारी पीढ़ी के सबसे महान व्यक्ति की महत्त्वाकांक्षा रही है कि

हर आँख का हर आँसू पोंछा जाए। यह हमारे सामर्थ्य से परे हो सकता है; परंतु जब तक आँसू हैं और पीड़ा है, हमारा काम ख़त्म नहीं होगा। तो अपने सपनों को साकार करने के लिए हमें कड़ी मेहनत करनी है। वे सपने भारत के लिए हैं और दुनिया के लिए भी, क्योंकि आज दुनिया के सारे देश इतनी घनिष्ठता से जुड़े हैं कि उनमें से कोई अलग-थलग रहने की कल्पना भी नहीं कर सकता। यह कहा गया है कि शांति अविभाज्य है, वैसे ही स्वतंत्रता व समृद्धि भी और इस एक विश्व, जिसे अब अलग-थलग टुकड़ों में बाँटकर नहीं रखा जा सकता, में विनाश भी अविभाज्य है।

भारत की जनता, जिसके हम प्रतिनिधि हैं, से हम अपील करते हैं कि वे इस महान उद्यम में निष्ठा और विश्वास के साथ हमारे सहयोगी बनें। यह समय क्षुद्र एवं विनाशकारी आलोचना का नहीं है और ना ही दुर्भावना व दूसरों पर दोष मढ़ने का। हमें स्वतंत्र भारत का एक भव्य महल बनाना है, जिसमें भारत माता के सभी बच्चे रह सकें।

महोदय, मैं यह प्रस्ताव रखने का अनुरोध करता हूँ कि यह प्रतिज्ञा की जाए-'इस पावन क्षण में, जब भारत की जनता ने अपार कष्ट और बलिदान के बाद स्वतंत्रता प्राप्त की है, मैं भारत की संविधान सभा का एक सदस्य पूरी विनम्रता के साथ, इस उद्देश्य के लिए कि यह पुरातन देश विश्व में अपना उचित स्थान प्राप्त कर सके तथा विश्व-शांति और मानव-कल्याण में अपना पूर्ण और स्वैच्छिक योगदान दे सके, भारत और उसकी जनता की सेवा के लिए स्वयं को समर्पित करता हूँ।'

❑

(14 अगस्त की आधी रात बारह बजे यानी 15 अगस्त को संविधान सभा के समक्ष भारतीय जनता को संबोधित पं. जवाहरलाल नेहरू का ऐतिहासिक भाषण)

(भारत के महान भाषण-सं. रुद्रांशु मुखर्जी, प्रभात प्रकाशन, नई दिल्ली, से सविनय साभार!)

पुण्यतिथि शताब्दी स्मरण

स्वराज्य मेरा जन्मसिद्ध अधिकार है

● बाळ गंगाधर टिळक

छह वर्षों की सज़ा काटकर सन 1914 में जब तिलक मांडले जेल से छूटे तो उन्होंने राष्ट्रीय आंदोलन को सुस्त पाया। स्वदेशी आंदोलन की लहर थम चुकी थी और उनके पुराने प्रतिद्वंद्वी चरमपंथी नेता ऊँचाई पर मालूम होते थे। तिलक चाहते थे कि कांग्रेस एक वैचारिक इकाई भर बने रहना छोड़कर ब्रिटिश शासन के खिलाफ विरोध-प्रदर्शनों का नेतृत्व करे। राष्ट्रीयता की भावना पुनर्जाग्रत करने के लिए तिलक और एनी बेसेंट ने होमरूल लीग का गठन किया–बेसेंट ने सन 1915 में और तिलक ने उससे अगले वर्ष। तिलक की होमरूल लीग की पहली वर्षगाँठ के अवसर पर यह भाषण दिया गया था। वयोवृद्ध तिलक युवाओं को संबोधित कर रहे थे और उनके शब्द इतने जोशीले थे कि वे राष्ट्रीय आंदोलन का शंखनाद बन गए। तिलक की स्वतंत्रता की माँग को सन 1929 में कांग्रेस के पूर्ण स्वराज्य के प्रस्ताव के रूप में समाविष्ट कर लिया गया था।

मैं यद्यपि शरीर से बूढ़ा, किंतु उत्साह में जवान हूँ। मैं युवावस्था के इस विशेषाधिकार को छोड़ना नहीं चाहता। अपनी विचार-शक्ति को सबल बनाने से इनकार करना यह स्वीकार करने के

समान होगा कि मुझे इस प्रस्ताव पर बोलने का कोई अधिकार नहीं है। अब मैं जो कुछ बोलने जा रहा हूँ, वह चिर युवा है। शरीर बूढ़ा, जर्जर हो सकता है और नष्ट भी हो सकता है, परंतु आत्मा अमर है। उसी प्रकार हमारी होमरूल गतिविधियों में भले ही सुस्ती दिखाई दे, उसके पीछे छिपी भावना अमर एवं अविनाशी है और वही हमें स्वतंत्रता दिलाएगी। आत्मा ही परमात्मा है और मन को

तब तक शांति नहीं मिलेगी, जब तक वह ईश्वर से एकाकार न हो जाए। यदि एक शरीर नष्ट हो जाता है तो आत्मा दूसरा शरीर धारण कर लेगी, 'गीता' विश्वास दिलाती है। यह दर्शन बहुत पुराना है। स्वराज्य मेरा जन्मसिद्ध अधिकार है। जब तक वह मेरे भीतर जाग्रत है, मैं बूढ़ा नहीं हूँ। कोई हथियार इस भावना को काट नहीं सकता, कोई आग इसे जला नहीं सकती, कोई जल इसे भिगो नहीं सकता, कोई हवा इसे सुखा नहीं सकती। मैं उससे भी आगे बढ़कर कहूँगा कि कोई सी.आई.डी. इसे पकड़ नहीं सकती। मैं इसी सिद्धांत की घोषणा पुलिस अधीक्षक, जो मेरे सामने बैठे हैं, के सामने भी करता हूँ, कलक्टर के सामने भी, जिन्हें इस सभा में आमंत्रित किया गया था और आशुलिपि लेखक, जो हमारे भाषणों

के नोट्स लेने में व्यस्त हैं, के सामने भी। मृत दिखाई देने पर भी यह सिद्धांत अदृश्य नहीं होगा। हम स्व-शासन चाहते हैं और हमें पाना ही चाहिए। जिस विज्ञान की परिणति स्व-शासन में होती है, वही राजनीति-विज्ञान है, न कि वह, जिसकी परिणति दासता में हो। राजनीति का विज्ञान इस देश के 'वेद' हैं। आपके पास एक आत्मा है और मैं केवल उसे जगाना चाहता हूँ। मैं उस परदे को हटा देना चाहता हूँ, जिसे अज्ञानी, कुचक्री और स्वार्थी लोगों ने आपकी आँखों पर डाल दिया है। राजनीति के विज्ञान के दो भाग हैं-पहला दैवी और दूसरा राक्षसी। एक राष्ट्र की दासता दूसरे भाग में आती है। राजनीति विज्ञान के राक्षसी भाग का कोई नैतिक औचित्य नहीं हो सकता। एक राष्ट्र जो उसे उचित ठहराता है, ईश्वर की दृष्टि में पाप का भागी है। कुछ लोगों में उस बात को बताने का साहस नहीं होता। लोगों को इस सिद्धांत के ज्ञान से अवगत कराना चाहता हूँ कि राजनीतिक और धार्मिक शिक्षा का एक अंग है। धार्मिक और राजनीतिक शिक्षाएँ भिन्न नहीं हैं, यद्यपि विदेशी शासन के कारण वे ऐसे प्रतीत होते हैं। राजनीति के विज्ञान में सभी दर्शन समाए हैं। स्व-शासन का अर्थ कौन नहीं जानता? कौन उसे नहीं चाहता? क्या आप यह पसंद करेंगे कि मैं आपके घर में घुसकर आपकी रसोई अपने कब्ज़े में ले लूँ? अपने घर के मामले निपटाने का मुझे अधिकार होना चाहिए। केवल पागल व्यक्ति और बच्चे अपने मामले स्वयं नहीं निपटा सकते। सम्मेलनों का मुख्य सिद्धांत यह है कि एक सदस्य इक्कीस वर्ष की आयु से अधिक होना चाहिए, इसलिए क्या आप नहीं समझते कि आपको अपना अधिकार मिलना चाहिए? पागल या बच्चे न होकर आप अपने मामले, अपने अधिकार समझते हैं और इसलिए आप जानते हैं कि स्व-शासन क्या है। हमें कहा गया है कि हम स्व-शासन के उपयुक्त नहीं हैं। एक शताब्दी गुज़र गई है और ब्रिटिश शासन हमें स्व-शासन के लायक नहीं बना पाया। अब हम अपने प्रयास करेंगे और स्वयं को उस लायक बना लेंगे। असंगत बहाने बनाना, लालच देना और वैकल्पिक प्रस्ताव करना ब्रिटिश नीतियों पर एक दाग है। इंग्लैंड भारत की सहायता से बेल्जियम जैसे छोटे

से देश को संरक्षण देने का प्रयास कर रहा है, फिर वह कैसे कह सकता है कि हमें स्व-शासन नहीं मिलना चाहिए। जो हममें दोष देखते हैं, वे लोभी प्रकृति के लोग हैं। परंतु ऐसे भी लोग हैं, जो परम कृपालु ईश्वर में भी दोष देखते हैं। हमें किसी बात की परवाह किए बिना अपने राष्ट्र की आत्मा की रक्षा में ही हमारे देश का हित छिपा हुआ है। कांग्रेस ने स्व-शासन का यह प्रस्ताव पास कर दिया है। प्रांतीय सम्मेलन कांग्रेस की ही देन है, जो उसके आदेशों का पालन करता है। हम अपने पिता, कांग्रेस के आदेशों का पालन श्रीरामचंद्र की तरह ही करेंगे। इस प्रस्ताव को लागू कराने हेतु कार्य करने के लिए हम कृत संकल्प हैं, चाहे ऐसे प्रयास हमें मरुभूमि में ही ले जाएँ, चाहे हमें अज्ञातवास में रहना पड़े, चाहे हमें कितने ही कष्ट उठाने पड़े या अंत में चाहे जान ही गँवानी पड़े। श्रीरामचंद्र ने ऐसा किया था। उस प्रस्ताव को केवल तालियाँ बजाकर पास न कराएँ, बल्कि इस प्रतिज्ञा के साथ कराएँ कि आप उसके लिए काम करेंगे। हम सभी संभव संवैधानिक और विधिसम्मत तरीकों से स्व-शासन की प्राप्ति के लिए कार्य करेंगे। ईश्वर की कृपा से इंग्लैंड ने हमारे बारे में अपना नज़रिया बदल दिया है। हम महसूस करते हैं कि हमारे प्रयास असफल नहीं होंगे। इंग्लैंड ने अहंकारवश समझा था कि इतने बड़े साम्राज्य को वह छोटा सा राष्ट्र केवल अपने बल पर बनाए रख पाएगा। वह अहंकार अब कम हो गया है। इंग्लैंड को अब महसूस होने लगा है कि उसे साम्राज्य के संविधान में बदलाव लाने होंगे। लॉयड जॉर्ज ने खुलकर स्वीकार किया है कि भारत के सहयोग के बिना इंग्लैंड अब चल नहीं सकता है। एक हज़ार वर्ष पुराने एक राष्ट्र के बारे में सारी धारणाएँ बदलनी होंगी। इंग्लैंड के लोगों को पता चल गया है कि उनके सभी दलों की अक्लमंदी पर्याप्त नहीं है। फ्रांसीसी रणभूमि में भारतीय सैनिकों ने ब्रिटिश सैनिकों की जान बचाकर अपनी बहादुरी का परिचय दिया है। जो लोग कभी हमें गुलाम समझते थे, अब हमें भाई कहने लगे हैं। ये सब परिवर्तन ईश्वर की कृपा से हुए हैं। अभी, जब अंग्रेज़ों के मन में भाईचारे की भावना

मौजूद है, हमें अपनी माँगों को लेकर दबाव बनाना चाहिए। हमें उन्हें बता देना चाहिए कि हम तीस करोड़ भारतीय साम्राज्य के लिए अपनी जान भी देने को तैयार हैं-और यह कि जब तक हम उनके साथ हैं, साम्राज्य की ओर कोई आँख उठाकर भी नहीं देख सकेगा।

❑

(भारत के महान भाषण-सं. रुद्रांक्षु मुखर्जी, प्रभात प्रकाशन, नई दिल्ली, से सविनय साभार!)

लोकशाहीर अण्णाभाऊ साठे

● डॉ. मंगेश बनसोड

सर्जनशील मनुष्य की अभावग्रस्तता उसे हमेशा नवसृजन की ऊर्जा देती रहती है। अभावग्रस्तता में मनुष्य नयापन ढूँढ़ता है। बदहाल ग़रीबी से तंग आकर दो वक़्त की रोटी की तलाश में वाटेगाँव से मुंबई का सफ़र पूरा करते बेहद अभावग्रस्तता के बावजूद अपनी प्रतिभा के बल पर अपने अस्तित्व का निर्माण करनेवाले लोकशाहीर अण्णाभाऊ साठे ने कला की दुनिया में अपनी एक अलग पहचान बनाई।

न के बराबर स्कूली शिक्षा थी अण्णाभाऊ के पास लेकिन उनकी प्रतिभा बहुत ही प्रखर थी। उन्होंने अपने साहित्य क्षेत्र में शाहिरी कवन, पोवाडा, गण, लावणी, लोकनाट्य के गीत सरीखी पद्यरचना की तथा 'इनामदार', 'पेंग्याचं लगीन', 'सुलतान' जैसे नाटक, चौदह लोकनाटक, एक सफ़रनामा, पैंतीस अफ़साने, तेरह कहानी संग्रहों से साहित्य को समृद्ध किया। इनके 'वैजयंता', 'आवडी', 'माकडीचा माळ', 'चिखलातील कमळ', 'वारणेचा वाघ', 'अलगुज' और 'फकिरा' इन सात रचनाओं पर मराठी फिल्मों का निर्माण किया गया। ऐसी महान प्रतिभा के धनी रचनाकर ने अपने सृजन के माध्यम से अपने विचारों को बड़ी सशक्तता से अभिव्यक्त किया।

अण्णाभाऊ साठे की अपनी एक राजनीतिक भूमिका थी। मुंबई आने के बाद शुरुआती दिनों में वे कल्याण और उसके बाद माटुंगा के लेबर कैंप में रहते थे। माटुंगा लेबर कैंप उस समय सामाजिक चेतना का गढ़ था। खास तौर पर कम्युनिस्ट और आंबेडकरी आंदोलन का महत्वपूर्ण केंद्र था। अण्णाभाऊ शुरू से ही कम्युनिस्ट आंदोलन की ओर आकृष्ट हुए। अपने आसपास की वर्ग-व्यवस्था पर उनकी पैनी दृष्टि थी। उस ज़माने की मुंबई महानगरी में फैली विषमता, ग़रीबी, असमर्थता, अभावग्रस्तता की ओर अण्णाभाऊ अत्यंत संवेदनशीलता से देख रहे थे और धीरे-धीरे उपेक्षितों की यही दुनिया उनकी कलम की नोक पर बस गई। अण्णाभाऊ के संपूर्ण साहित्य-सृजन में जगह-जगह इस उपेक्षित दुनिया के अभावग्रस्त लोग, उनकी अभावग्रस्त ज़िंदगी; उनका ज़िंदगी और ख़ुद से निरंतर

चलनेवाला संघर्ष, उनकी असमर्थता की भावपूर्ण अभिव्यक्ति हुई है। साथ ही कम्युनिस्ट विचार, वैचारिक आंदोलन, 'लाल' निशान और झंडा, किसान, मज़दूर, मिल मज़दूरों का दबंग सत्ताधारियों के विरुद्ध चलनेवाला संघर्ष, उनमें पैदा हो रही नवचेतना; ऐसे अनेक पहलुओं का समर्थ एवं सार्थक चित्रण उनके विस्तृत साहित्य में हुआ है। उनके प्रखर सामाजिक-राजनीतिक विचार, उनका विद्रोहीपन उनकी लेखनी की महत्वपूर्ण विशेषता है। अपने विविध लोकनाट्यों के माध्यम से

अपने सामाजिक तथा राजनीतिक विचारों एवं संघर्षों को उन्होंने जिस तरह अभिव्यक्त किया है, यह जानना बेहद रोचक है।

अण्णाभाऊ साठे के नाटक व लोकनाट्य:

इन्होंने कुल तीन बड़े नाटक व चौदह लोकनाट्यों की रचना की।

नाटक:

1. इनामदार
2. सुलतान
3. पेंग्या की शादी

लोकनाट्य:

1. अकल की बात
2. खाप चोर
3. कलंत्री
4. बिलंदर लुटेरा
5. बेकायदा
6. सेठजी का इलेक्शन
7. नेता मिल गया
8. खामोश मोर्चा
9. मेरी मुंबई
10. देश भक्तों की हेराफेरी
11. ग़रीबी में आटा गीला
12. चुनाव में हेराफेरी
13. लोकमंत्री का दौरा
14. पेंग्या की शादी

लोकनाटकों के विषय और कथ्य:

सभी लोकनाटकों में विद्रोही सामाजिक एवं राजनीतिक आशय अभिव्यक्त हुए हैं।

अकल की बात:

इस लोकनाटक में साहूकारों द्वारा आम किसानों को फँसाने के लिए किस तरह के कुटिल खेल किए जाते है और उस कुटिल खेल से अपनी अक्ल और चतुराई का इस्तेमाल करते हुए किसान साहूकार के चंगुल से अपने आपको किस तरह छुड़ाता है और ख़ुद साहूकार अपने ही खोदे गड्ढे में किस तरह गिर पड़ता है, इसका दिलचस्प किस्सा इस लोकनाट्य में अभिव्यक्त हुआ है।

सेठजी का इलेक्शन:

इस लोकनाटक में चुनाव में टिकट देते समय किस तरह हेराफेरी की जाती हैं, वफ़ादार कार्यकर्ता को चुनाव का टिकट न देकर राजनैतिक दल किस तरह पूँजीवादियों के चंगुल में फँसे रहते हैं इसका ख़ुशनुमा वर्णन हमें देखने को मिलता हैं।

बेकायदा:

इस लोकनाटक में आम जनता को बड़े-बड़े जुमले देकर काउन्सिल में चुनकर गया हुआ अमीर मगरचंद सेठ लोगों से किया हुआ वादा किस तरह भूल जाता है, इसकी कहानी देखने को मिलती है। सेठ जी का इलेक्शन में भी सेठ का नाम मगरचंद ही था। इस नाम की प्रतीकात्मकता स्वत: स्पष्ट है। ग़रीब पर सशक्त पात्र का नाम धोंडिबा भी सार्थक है। इस नाटक में मिल मालिक और मज़दूरों के संघर्ष की दास्तान भी है जिसमें विजय मज़दूरों की ही होती है।

मेरी मुंबई:

इस लोकनाटक का विषय है कि मुंबई पर सही हक़ किसका है? मुंबई की मज़दूर बस्ती में मज़दूर मुंबई के बारे में बातचीत करते है कि मुंबई में मुनाफ़ाखोरी करनेवालों, कालाबाज़ारी करनेवालों का वर्चस्व है। दिन-रात मेहनत करके भी यहाँ के मराठी लोगों को गंदी बस्तियों में ही रहना पड़ता है। सिर्फ़ नाम के लिए ही मराठियों का महाराष्ट्र कहा जाता है लेकिन यहाँ पर मराठी आदमी की हालत बहुत ही ख़राब है। वह मिल में काम करता है, बंदरगाह में कुलीगिरी करता

है और सड़क पर सोता है। पूरी मुंबई को महँगाई और कालाबाज़ारी करनेवालों ने लूटा है। इसी संदर्भ में संयुक्त महाराष्ट्र आंदोलन की झलक भी दिखाई पडती है और अंतत: यह विश्वास व्यक्त होता है कि एक दिन यह शहर मेहनतकश मज़दूरों के अधिकार में होगा।

ख़ामोश मोर्चा:

'ख़ामोश मोर्चा में भी मुंबई के मिल मज़दूरों का कठिन जीवन चित्रित किया गया है। मुंबई की बढ़ती जा रही भीड़ और इस भीड़ की वजह से जहाँ देखो आदमियों की क़तारें लगी हुई। नल पर, संडास पर, स्टेशन पर, होटल में, नाई की दुकान में; सब ओर क़तारें ही क़तारें। उसकी वजह से लगने वाले धक्के और आपस में होनेवाले टकराव का चित्रण इस नाटक में किया गया है। इसके अलावा मुंबई की चाल में किराए से रहने वाले मज़दूरों को कमरे खाली करने का आदेश सरकार की ओर से आता है। चाल के सभी किराएदार इकट्ठा होकर चाल के मालिक और सरकार से लड़ने को तैयार होते हैं। विरोध के सभी उपायों पर गौर करने के बाद यह तै होता है कि इस अन्याय के खिलाफ ख़ामोश मोर्चा निकाला जाय। इस मोर्चे में सरकार के खिलाफ नारे लगाए जाते हैं। मोर्चे पर लाठीचार्ज होता है किंतु वे हार नहीं मानते। इस नाटक में निर्धन मिल मज़दूरों की संघर्ष गाथा अण्णाभाऊ साठे ने बड़ी शिद्दत से व्यक्त की है।

लोकमंत्री का दौरा:

गृहमंत्री मगरचंद हमेशा दौरे पर होने के कारण जो लोग उनसे मिलना चाहते हैं उनकी उनसे मुलाक़ात नहीं होती। मिल मालिक संघ के खटारिया, मिल मज़दूर यूनियन के विष्णु से उनकी मुलाकात नहीं होती। उनका सेक्रेटरी घोटाले कहता है कि साहब हमेशा दौरे पर रहते हैं इसलिये आपको अगर उनसे मिलना हैं तो आप भी अपना दौरा निकालो। मगरचंद मंत्री जगह-जगह दौरे पर पेड़ लगवाने के लिए कहते हैं। लेकिन जहाँ लोगों को रहने की जगह नहीं है, वे पेड़ कहाँ लाएँगे? आम आदमी का जीना ही दुश्वार हो गया है। अपने झूठे

आश्वासनों से मंत्री किस तरह आम आदमी को छलता है और अपनी स्वार्थपूर्ति में लगा रहता है इसका मार्मिक चित्रण इस नाटक में किया गया है।

पेंग्या की शादी:

प्रहसन शैली का यह नाटक जन जागृति तथा सामाजिक कुरीतियों पर प्रहार करता है। इसमें अधेड़ और मंदबुद्धि पेंग्या का विवाह गाँव के लोग पुतला नामक लड़की से करवाना चाहते हैं जबकि पुतला इस विवाह के लिए बिल्कुल भी राज़ी नहीं है। वह इस रिश्ते का विरोध करती है। कोई भी पुतला का साथ नहीं देता किंतु मुंबई से आया उसका भाई राणू अपनी बहन के पक्ष में पूरे गाँव के खिलाफ खड़ा होता है और अंततः पुतला का जीवन बर्बाद होने से बच जाता है। स्त्री का स्वतंत्र निर्णय और उसका साहस इस कथा का केंद्रीय तत्व है।

ग़रीबी में आटा गीला:

मुसीबत के समय जब मेहमान घर आ जाए और टलने का नाम ले तब मेज़बान की जो विकट अवस्था होती है और फिर वह किस तरह की चतुराई या धूर्तता से मेहमानों को भगाने पर विवश हो जाता है, इसका हास्यपूर्ण वर्णन इस नाटक में किया गया है। तमाशा की पृष्ठभूमि में विकसित इस कथा में झेंडबा केंद्रीय चरित्र है जो एक तमाशा समूह का मुखिया है और अपने साथियों के मन में पैठे हुए अपने विषय को उनकी सहायता से बाहर निकालता है और उसी में से नाटक का जन्म होता है। दूसरों के घर मेहमान बनकर मौज उड़ाने वाले झेंडबा की मेहमान नवाज़ी करके तंग आकर तमाशा के उसके साथी उसके घर मेहमान बनकर जाते हैं और झेंडबा बड़ी चतुराई से उन्हें अपने घर से भगाता है। यह नाटक भी प्रहसनात्मक नाटक है।

नेता मिल गया :

इस लोकनाट्य में राजनीति का झूठ और हर एक को नेता बनने का शौक होने के कारण झूठा नेता किस तरह अपनी नेतागिरी चमकाने के लिए और अपनी नेतागिरी बरकरार रखने के लिये क्या क्या कसरत करते हैं इसका सार्थक चित्रण किया गया है।

वाघोरी गाँव के लोगों को किस तरह ऊपर से थोपे गए मुंबई के नेता डोईफोडे से मुक्ति मिलती है और उन्हें अपना सही नेता मिलता है इसकी कथा इस नाटक में कही गई है और साथ ही धूर्त नेताओं की स्वार्थपरता और लालची प्रवृत्ति का खुलासा भी बड़ी ख़ूबसूरती के साथ किया गया है।

बिलंदर लुटेरा :

जैसी करनी वैसी भरनी या शेर को सवा शेर मुहावरे को चरितार्थ करता यह नाटक बेहद मनोरंजक और रोचक है। एक गाँव में बिलंदर लुटेरा रहता है। वह लोगों से कर्ज़ लेकर उसे चुकाता नहीं है इसलिए उसे लोग बिलंदर लुटेरा कहते हैं। लोग उससे परेशान है किंतु उसका कुछ नहीं कर पाते। ऐसे में एक दिन शेर को सवा शेर मिल ही जाता है। बिलंदर से पड़ोसी गाँव का राणू शर्त बदता है कि वह बिलंदर को कर्ज़ देकर वसूल कर दिखाएगा। और राणू अपनी होशियारी से बिलंदर को दिए गए कर्ज़ के रुपये वसूल कर यह साबित कर देता है कि लूट का खेल बहुत दिनों तक नहीं चल सकता।

अण्णाभाऊ साठे के लोकनाट्य के विषय, उसका आशय और उसकी विशेषता :

लोकशाहीर अण्णाभाऊ साठे का मुंबई का सारा जीवन माटुंगा लेबर कैंप, कम्युनिस्ट आंदोलन, मिल मज़दूर, मुंबई की मज़दूरों की बस्तियाँ, चाल और 'संयुक्त महाराष्ट्र के आंदोलन' में बीता। उनके सामने हमेशा अभावग्रस्त जीवन जीनेवाला-कंगाल, मुंबई का आम आदमी था।गाँव में रहनेवाला और मेहनत करनेवाला किसान था, इर्द-गिर्द रहनेवाले गए गुज़रे लोग थे। यह जीवन उन्होंने करीब से

देखा था और जिया भी था इसलिये ऐसे ही लोगों की कथा, कहानी उनके साहित्य में हमें दिखाई देती है। अण्णाभाऊ के सभी लोकनाट्यों की कथाएँ ऐसे ही लोगों की है।

अकल की बात में कालाबाज़ारी करनेवाले साहूकारों से लूटे जानेवाले किसानों की कहानी है। किसानों को हमेशा मूर्ख और बुद्धिहीन समझनेवाले साहूकार को जब अपनी अक्ल की वजह से एक किसान पराजित करता है तब उसकी आँखें खुलती है। पर किसानों का शोषण और उन पर होनेवाले अन्याय कम नहीं होते। मुंबई मेरी? लोकनाट्य में सड़कों पर रहनेवाले मुंबई के अभावग्रस्त लोग हमें दिखते है। साहूकारों ने पैसों के बल पर मुंबई अपनी मुठ्ठी में कर रखी है और ग़रीबों का किस तरह से शोषण चलता है इसका अहसास होता है। बेकायदा, लोकमंत्री का दौरा, नेता मिल गया जैसे राजनीतिक विषय के लोकनाट्य में झूठे-भ्रष्ट और आम जनता को लूटने वाले नेता दिखाई पड़ते है। 'सेठजी का इलेक्शन' में भी वफादार कार्यकर्ता को दूर रखकर पैसेवालों को ही राजनैतिक दल इलेक्शन का टिकट देते है। पेंग्या की शादी, ग़रीबी में आटा गीला और बिलंदर लुटेरा इन लोकनाट्य में अभाव में जीनेवाले लोग जीने के लिये क्या क्या करते है, इसका अहसास हमें होता है।

संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि अण्णाभाऊ साठे के लोकनाट्य के विषय आम गरीब किसान, अभावग्रस्त, जीने का संघर्ष कर रहे भूखे-कंगाल लोग, राजनीति करनेवाले लोग और इस व्यवस्था से पीड़ित लोगों के जीवनसंघर्ष पर आधारित है। यह नाटक एक आदमी की समस्या नहीं है बल्कि समष्टि की समस्या उजागर करनेवाले नाटक है। इसलिए अपने आप इन नाटकों का आशय सामाजिकता के नज़रिए से व्यक्त होता है। अण्णाभाऊ साठे के लोकनाट्य के पात्र भी हमेशा संघर्षशील रहे है। वे अपनी ज़िंदगी के साथ साथ समाज के जीवन के लिए भी संघर्ष करते हुए दिखाई देते है। वे कभी मोर्चा निकालते है, लाठीचार्ज झेलते है, राजनीति व्यवस्था, पूँजीवादी व्यवस्था, नौकरशाही व्यवस्था, पुलिस व्यवस्था के साथ हमेशा अपने हक़ के लिए लड़ते, संघर्ष करते दिखाई देते है। अण्णाभाऊ साठे के नाटकों में सर्वहारा वर्ग के पात्र नीतिवान है,

शीलवान हैं। पारिवारिक तथा सामाजिक नैतिकता का पालन करनेवाले हैं। इन चरित्रों काअपना नैतिक पक्ष है जिसके लिए वे भ्रष्ट, शोषित व्यवस्था के विरोध में दिखाई देते हैं।उन्हें सबको समानता प्रदान करनेवाली, शोषणरहित, भ्रष्टाचाररहित व्यवस्था चाहिए। वह व्यवस्था सिर्फ पूँजीवाद के हित में न हो। सभी के हितों का रक्षण करनेवाली हो। यही उनकी अपेक्षा है और इसीलिए कम्युनिस्ट प्रवर्तित वर्ग संघर्ष के राजनीतिक विचार अण्णाभाऊ के नाटकों में हमेशा दिखाई पड़ते हैं। अण्णाभाऊ साठे के लोकनाट्य की यह विशेषता रही है कि उनके सभी नाटकों के विषय यथार्थवादी रहे हैं। अण्णाभाऊ को उनके इर्द-गिर्द की दुनिया जैसी दिखी वैसी ही उन्होंने अपने नाटकों में लाने की कोशिश की। ये सभी विषय उनकी ज़िंदगी से जुड़े हुए हैं। उनके नाटकों की कहानियाँ भी उनकी ज़िंदगी से आई हैं। उनके नाटकों के पात्र भी उनकी ज़िंदगी से ही आते हैं क्योंकि ये विषय, ये कहानियाँ, ये लोग, उनसे जुड़ी घटनाएँ, नाटक के प्रसंग, उसके मज़ाक, हँसी, उसके पात्र, पात्रों द्वारा बोली जानेवाली भाषा अण्णाभाऊ ने जस के तस रखी हैं। इसलिए समाज की वास्तविकता के दर्शन हमें अण्णाभाऊ साठे के लोकनाट्य में होते हैं।

अण्णाभाऊ के सभी लोकनाटक आज भी प्रासंगिक हैं क्योंकि सत्तर-पचहत्तर सालों के बाद भी ये नाटक, उसकी कहानी, उसके विषय, उसका आशय, उसके पात्र, उनकी समस्याएँ, उनका संघर्ष, कालाबाज़ारी, ग़रीब किसानों का शोषण, आम मजदूर वर्ग का शोषण, सामाजिक-राजनीतिक आंदोलन, मोर्चा, लाठीचार्ज, झूठे और चालाक नेता आदि सभी बातें आज के समय में भी वैसे की वैसी दिखाई देती हैं। आज मुंबई का मिल मजदूर तहस नहस हो गया है। इस पृष्ठभूमि पर अण्णाभाऊ साठे के लोकनाटक अपने 'समकालीन मूल्य' तथा अपनी समकालीन मौलिकता अधिक स्पष्ट करते हैं।

उपसंहार:

अण्णाभाऊ साठे के प्रत्येक लोकनाट्य में आम आदमी की कथा, उसकी व्यथा, उसका संघर्ष जैसा दिखाई देता है वैसे ही एक बाग़ी सामाजिक और राजनीतिक आशय भी कदम कदम पर दिखाई

पडते हैं। सर्वहारा वर्ग को न्याय मिले, शोषित-पीड़ित जनता की ज़िंदगी ख़ुशहाल हो, इसलिए सीधे सड़क पर उतर कर प्रत्यक्ष अपनी कविता-पोवाडों के माध्यम से राजनीतिक शक्तियों को चुनौती देनेवाले और वक्त पड़ने पर संघर्ष के लिए उद्धत होने वाले अण्णाभाऊ साठे ने ऐसे ही कंगाल, अभावग्रस्त आदमी के संघर्ष को अपने नाटकों द्वारा उतनी ही ताक़त से रखा है। इसीलिए लोकशाहीर अण्णाभाऊ साठे बाग़ी सामाजिक एवं राजनीतिक आशय रखनेवाले लोकनाट्य के प्रवर्तक माने जाते हैं।

❑

संदर्भ:

1. डांगे, अर्जुन व इतर (संपा) (1998) लोकशाहीर अण्णाभाऊ साठे निवडक वाड्.मय,
सचिव, महाराष्ट्र राज्य साहित्य आणि संस्कृती मंडल, मुंबई,

आलेख

देशी आयुर्विज्ञान और सांस्कृतिक वर्चस्व

● के.एन.पणिक्कर

भारत में औपनिवेशक शासन के आरंभिक दौर में देशी ज्ञान-पद्धति और सांस्कृतिक आचार-व्यवहार पर काफी दबाव पड़ा। पश्चिम की बौद्धिक तथा सांस्कृतिक शक्तियों से सामना होने पर भारतीय बौद्धिक जनों ने ऐसी विश्व दृष्टि विकसित की जो पारंपरिक सांस्कृतिक तथा सामाजिक आचार-व्यवहार की आलोचक थी।[1] तथापि उनकी परिवर्तन की कार्यसूची पश्चिमीकरण पर आधारित नहीं थी, बल्कि उसका आधार आवश्यकतानुसार वर्तमान को अस्वीकार करना और सुधारना था। पश्चिम के द्वारा प्राप्त प्रगति भविष्य की संभावित दिशाओं का संकेत देती थी, लेकिन नई व्यवस्था में अतीत का स्थान क्या हो, यह काफी अनिश्चित था। औपनिवेशक संस्कृति के बढ़ते हुए प्रभाव के कारण इस अनिश्चितता में और भी तीव्रता आई और सांस्कृतिक विरासत को गँवा बैठने की संभावना तक दिखाई देने लगी। फलत: बौद्धिक जन एक अंतर्विरोध की स्थिति में फँस गए: पुराने को त्याग कर नए सांस्कृतिक परिवेश की रचना करें या पारंपारिक संस्कृति का परिरक्षण या उद्धार करें, ताकि अतीत का मूलोच्छेद न हो। इस अंतर्विरोध में संगति बैठाने के प्रयत्नों के फलस्वरूप वे अतीत

तथा वर्तमान दोनों की आलोचनात्मक छानबीन में प्रवृत्त हुए। देशी आयुर्विज्ञान में नवजीवन का संचार करने का आंदोलन भारतीय समाज की 19वीं सदी के उत्तरार्ध और बीसवीं सदी के प्रारंभिक दौर की इसी तलाश का अंग था।

पाश्चात्य आयुर्विज्ञान का दाख़िल किया जाना

अंग्रेज़ों के भारत-विजय के समय भारतीय जनता की चिकित्सा संबंधी आवश्यकताओं की पूर्ति कई देशी चिकित्सा पद्धतियाँ करती थीं-जैसे आयुर्वेद, यूनानी, सिद्ध और लोक-चिकित्सा। इन पद्धतियों, खासतौर से आयुर्वेद और यूनानी के बीच फलप्रद आदान-प्रदान के परिणामस्वरूप औषधों की सूची समृद्ध हुई और निदान-कौशल की अभिवृद्धि हुई। प्राचीन और मध्यकालीन भारत में चिकित्साशास्त्र की समीक्षा करते हुए ए.एल.बैशम ने इन दो पद्धतियों के वैद्य-हकीमों के बीच चल रहे सहयोग को रेखांकित किया है। उनकी राय में, 'उलमा और ब्राह्मणों का कहना चाहे जो भी रहा हो, चिकित्सा के क्षेत्र में हिंदुओं और मुसलमानों के बीच वैर-विरोध का कोई प्रमाण नहीं मिलता।[2] सिकंदर लोदी के बाह्वा खाँ नामक एक मंत्री तथा बाबर और हुमायूँ के दरबार में यह यूसुफ़ी नामक एक हकीम के अरबी, फ़ारसी तथा आयुर्वेदिक विचारों के मिश्रण से एक सामासिक और समेकित पद्धति का विकास करने के प्रयत्न इस सहयोग के प्रमाण हैं।[3] मध्यकाल में कई अन्य लोगों ने भी दोनों पद्धतियों को एक-दूसरे के साथ लाने की कोशिश की। शाहजहाँ का हकीम अब्दुल शिराज़ी और औरंगज़ेब का दरबारी हकीम मोहम्मद अकबर अंसारी इसके उल्लेखनीय उदाहरण हैं। यूनानी और आयुर्वेदिक पद्धतियों ने एक-दूसरे की औषधियों को अपनाया। मोहम्मद अली ने यूनानी हकीमों द्वारा अपने औषधिशास्त्र में जोड़ी गई भारतीय मूल की 210 जड़ी-बूटियों की सूची दी है।[4] इस प्रकार आयुर्वेद ने भी अपनी औषधि-सूची में यूनानी पद्धति की कई औषधियों को स्थान दिया।[5] चार्ल्स लेस्ली का कहना है कि इस आदान-प्रदान, सहयोग और संयोजन के फलस्वरूप आयुर्वेदिक

वैद्यों के पारंपारिक विश्वासों और व्यवहारों में 'क्लासिकी पोथियों के मुकाबले भारी बदलाव' आया।[6] यदि परिवर्तन जितना लेस्ली कहते हैं उतना स्पष्ट ना रहा हो तो भी देसी वैद्यों में उन अन्य पद्धतियों के ज्ञान को ग्रहण करने की इच्छा और सामर्थ्य का अभाव नहीं था जिनसे उनका संपर्क हुआ। आरंभ में भारत स्थित गौरव के लाभ के लिए दाख़िल की गई और बाद में भारतीय जनता को सुलभ कराई गई पाश्चात्य चिकित्सा-पद्धति साम्राज्य का एक 'औज़ार' थी।[7] जैसा कि राय मैक्लियड कहते हैं, वह एक सांस्कृतिक शक्ति थी, 'जो अपने-आप में एक सांस्कृतिक एजेंसी और उसके साथ ही पश्चिमी दुनिया के विस्तार की एजेंसी के भी रूप में काम कर रही थी।'[8] भारतीय बौद्धिक जनों के रुख से मैक्लियड की बात की स्पष्ट पुष्टि होती है। बौद्धिक जनों के लिए, आधुनिक विज्ञान जिसे वे पश्चिमी संस्कृति के अभिन्न अंग के रूप में देखते थे, आधुनिकीकरण की एक महत्वपूर्ण शक्ति था। राममोहन राय ने ज़ोरदार शब्दों में दलील दी कि 'दुनिया के दूसरे हिस्सों के निवासियों के मुक़ाबले यूरोप के बाशिंदों को तरक्की की राह ले जाने वाली चीज़' वैज्ञानिक ज्ञान है।[9] इसके विपरीत, देशी परंपरा में विज्ञान अविकसित था और पश्चिम से विज्ञान को प्रशंसा भाव के साथ ग्रहण किया गया:

हमने ज्ञान के उदय को सुखद आशा की दृष्टि से देखा, जो उदीयमान पीढ़ी के लिए वरदान रूप था। हमारे हृदय प्रसन्नता और कृतज्ञता की मिश्रित भावना से भर गए। हमने ईश्वर को इस बात के लिए धन्यवाद दिया कि उसने पश्चिम के परम उदार और प्रबुद्ध राष्ट्र को आधुनिक यूरोप की कलाओं तथा विज्ञानों को एशिया में आरोपित कर देने की प्रेरणा दी।[10]

शिक्षा के संबंध में लॉर्ड एमहर्स्ट के नाम राममोहन के जिस पत्र से उपर्युक्त उद्धरण लिया गया है उसमें पश्चिमी तथा देशी ज्ञान के बीच तुलना का सिलसिला अटूट रूप से चलता है। उसके अनुसार, बेकनोत्तर यूरोप में विकसित 'यथार्थ ज्ञान' के विपरीत भारत के पास जो कुछ था वह 'महत्वपूर्ण सूचना' के अलावा और

कुछ नहीं था।[11] राममोहन राय का कहना था कि यदि भारतीय मानस देशी ज्ञान-पद्धति की चारदीवारी में घिरा रहा तो देश अंधकार में ही पड़ा रहेगा। उनके अनुसार, एकमात्र उपाय पश्चिमी ज्ञान को आत्मसात करना और इस प्रकार प्रगति के मार्ग पर चल पड़ना था।

इस सांस्कृतिक तथा विचारधारात्मक संदर्भ में भारत में पाश्चात्य आयुर्विज्ञान को दाख़िल किया गया। बुद्धिजीवी वर्ग ने उसका स्वागत किया, यह तो स्वाभाविक ही था, यद्यपि आरंभ में कुछ झिझक और शंका अवश्य हुई। कुछ ने तो धार्मिक पूर्वाग्रहों के कारण नई पद्धति को नहीं अपनाया, लेकिन कुछ ऐसे लोग भी थे जो टीकाकरण जैसे उपायों की विधियों तथा परिणामों से संबंधित अफ़वाहों से, जो सर्वथा निराधार नहीं थी, प्रभावित हुए। सुधारक और राष्ट्रवादी नेता के.टी.तैलंग ने शल्य-क्रिया करवाने के सुझाव के संबंध में जो प्रतिक्रिया ज़ाहिर की उसमें उस काल के कुछ पूर्वाग्रहों की झाँकी देखी जा सकती है। उन्होंने एक सरल सी शल्य-क्रिया करवाने से, जिससे उनकी जान बच सकती थी, अपने माता-पिता की भावनाओं का ख़याल करके इन्कार कर दिया। उनके माता-पिता को 'नश्तर के हलके से हलके प्रयोग पर, खून की एक भी बूँद बहाने पर घोर आपत्ति' थी।[12] इस तरह के आरंभिक संकोच-विकोच के बावजूद पाश्चात्य आयुर्विज्ञान द्वारा सुलभ कराया जाने वाला उपचार बुद्धिजीवी वर्ग के लिए आकर्षक था: उसे आधुनिकता के अंगीकरण के उपाय के रूप में देखा जाता था, और पुरातन को चुनौती देकर नए सांस्कृतिक संसार का अंग बनना समझा जाता था।

१९ वीं सदी के दौरान राज्य ने पाश्चात्य आयुर्विज्ञान के लिए प्रशासनिक और संस्थागत बुनियादी ढाँचा स्थापित किया।यद्यपि आरंभ में यह व्यवस्था सीमित ही थी तथापि जो अस्पताल, औषधालय और कॉलेज स्थापित किए गए उन्होंने उस नाभि-केंद्र का काम किया जिसके सहारे औपनिवेशिक आयुर्विज्ञान ने अपना वर्चस्व स्थापित करने और इस प्रकार देशी पद्धति को बाहर

धकेलने और उसकी हैसियत को मिटाने की कोशिश की। इस दृष्टि से राज्य की भूमिका उसके प्रशासनिक दायित्वों की सीमाओं से बाहर चली गई। उसने न केवल पश्चिमी आयुर्विज्ञान को आगे बढ़ाया बल्कि अन्य सभी पद्धतियों पर उसकी श्रेष्ठता स्थापित करने का भी प्रयत्न किया। इस प्रकार पाश्चात्य आयुर्विज्ञान सरकारी तौर पर प्राथमिकता प्राप्त पद्धति बन गया, उसे सरकारी आयुर्विज्ञान का दर्जा दिया गया, और अन्य पद्धतियों के प्रति सरकारी रवैया भेदभाव पूर्ण ही नहीं बल्कि विरोध पूर्ण हो गया।

यद्यपि पाश्चात्य ज्ञान के प्रति औपनिवेशिक राज्य की प्राथमिकता की अभिव्यक्ति पौर्वात्यवादी-आंग्लवादी विवाद के दौर में ही सामने आ गई और संस्थागत व्यवस्थाएँ उसके बाद की गईं, तथापि उसके पक्ष में प्रशासनिक तथा वैधानिक हस्तक्षेप करने में समय लगा। आयुर्विज्ञान के क्षेत्र में हस्तक्षेप 19वीं सदी के अंतिम चरण में किया गया, जब औपनिवेशिक आयुर्विज्ञान की माँग को मौजूदा बुनियादी ढाँचे के सहारे पूरा करना असंभव हो गया। जो ख़ालीपन रह गया था उसे इस विज्ञान का जैसा-तैसा ज्ञान प्राप्त करने वाले चिकित्सकों ने पूरा किया। उन लोगों को या तो मान्यता-रहित संस्थाओं में कुछ प्रशिक्षण प्राप्त हुआ था या फिर वह सर्वथा अप्रशिक्षित ही थे। इससे पश्चात आयुर्विज्ञान की वर्चस्व स्थापना की संभावना ख़तरे में पड़ गई क्योंकि उसकी स्वीकृति उसकी प्रभावकारिता के बोध पर निर्भर थी और यदि उसके व्यवहारिक रूप को नीम हकीम के हाथों छोड़ दिया जाता तो उस बोध को आँच आ सकती थी। बंबई के ग्रांट मेडिकल कॉलेज के प्रिंसिपल ने 1881 में एक समाधान सुझाया: चिकित्सकों के प्रस्ताव को बंबई सरकार का अनुमोदन मिला लेकिन भारत सरकार ने उस समय उसे सही नहीं माना और इस मामले में कानून बनाने की अनुमति देने से इन्कार कर दिया।[13] लेकिन बंबई सरकार अपने विचार पर दृढ़ रही और 1887 में उसने फिर से इस तरह का प्रस्ताव रखा, मगर इस बार उसने उसे बंबई शहर और द्वीप तक सीमित रखा। परंतु भारत सरकार अब भी स्थिति को इतना कठिन नहीं मान रही थी कि राज्य का हस्तक्षेप

उचित समझा जाता। अपनी स्थिति में संशोधन करने में सरकार को लगभग 30 साल और लगे। इस परिवर्तन का कारण यह था कि अमान्य आयुर्विज्ञान संस्थाओं से प्राप्त डिग्रियों और डिप्लोमाओं के धारक लोग अपने को योग्यता प्राप्त चिकित्सक बताकर काम कर रहे थे। फलत: जब 1909 में बंबई सरकार ने तीसरी बार अपना प्रस्ताव रखा तो वह बड़ी आसानी से स्वीकार कर लिया गया, जिसकी परिणति 1912 के बंबई चिकित्सक पंजीकरण अधिनियम (मेडिकल रजिस्ट्रेशन एक्ट) में हुई।[14] दूसरे प्रांतों में ने शीघ्रता से बंबई का अनुसरण किया।

इस अधिनियम में एक आयुर्विज्ञान परिषद (मेडिकल कौंसिल) की स्थापना के अलावा, चिकित्सकों के पंजीकरण की भी व्यवस्था की गई। अब नियम यह हो गया कि जो लोग अधिनियम के अधीन पंजीकृत हैं वही चिकित्सकीय प्रमाणपत्र जारी कर सकते हैं या सरकारी पदों पर नियुक्त किए जा सकते हैं।[15] पंजीकरण केवल उन्हींका हो सकता था जो 'बंबई, कोलकाता, मद्रास, इलाहाबाद और लाहौर विश्वविद्यालयों के चिकित्सा के डॉक्टर, स्नातक और लाइसेंसधारी, और शल्य क्रिया के अधिस्नातक, स्नातक और लाइसेंसधारी तथा सरकारी आयुर्विज्ञान कॉलेज या स्कूल के डिप्लोमा या प्रमाणपत्र के धारक' हों।[16]

फलितार्थ की दृष्टि से देखें तो देशी पद्धतियाँ इस अधिनियम की संक्रिया से और इस प्रकार राज्य के संरक्षण से बाहर थीं। इससे भी अधिक महत्वपूर्ण बात यह थी कि देशी आयुर्विज्ञान के चिकित्सक घटिया स्थिति में डाल दिए गए, क्योंकि उन्हें राज्य की मान्यता प्राप्त नहीं थी और इसलिए उन्हें अर्हताविहीन समझा जाता था। उन्हें अपना चिकित्सा का धंधा करने की सुविधा से वंचित कर देने के विचार का जन्म भी तभी हुआ, लेकिन उस समय सरकार ने उसे 'अव्यावहारिक' बताकर इस सुझाव को अस्वीकार कर दिया। मगर यह आशा अवश्य व्यक्त की गई कि 'जब सही समय आ जाएगा' तब 'अर्हता-रहित चिकित्सकों पर प्रतिबंध लगाने' के लिए कानून बनाया जाएगा।[17] इस अधिनियम से देशी चिकित्सा पर रोक

तो नहीं लगी, लेकिन उसे राज्य का अनुमोदन भी प्राप्त नहीं रहा। इस प्रकार इस अधिनियम के माध्यम से राज्य ने अपने पक्षपातपूर्ण रुख का स्पष्ट परिचय दिया।

इस अधिनियम के पारित किए जाने के बाद जो चर्चाएँ हुईं उनसे साफ़ हो गया कि सरकार का इरादा चिकित्सा के पेशे को 'अनियमित रूप से अर्हता प्राप्त करने वाले चिकित्सक' से बचाने तक सीमित नहीं था। समय आने पर उसकी मंशा देशी पद्धति के स्थान पर पश्चिमी पद्धति को पूर्ण रूप से प्रतिष्ठित कर देने की थी। इसके पीछे जो तर्क बताया गया वह यह था कि देशी पद्धति अवैज्ञानिक, युग-जर्जर और अपर्याप्त है। उसके स्थान पर सरकार भारतीयों तक आधुनिक पद्धति के लाभ पहुँचाने की कोशिश कर रही थी। विचित्र विडंबना कि मद्रास के गवर्नर लॉर्ड पेंटलैंड ने केरल में चेरुतुरूती में एक आयुर्वेदिक औषधालय का उद्घाटन करते हुए यह राय ज़ाहिर की। उसने ज़ोर देकर कहा कि देशी पद्धति को शरीर-रचना विज्ञान की कोई जानकारी नहीं है, उसकी औषधियों की गुणवत्ता निकृष्ट है और उसमें कारण-परिणाम संबंध स्थापित करने का सामर्थ्य नहीं है। गवर्नर का कहना था कि ऐसी पद्धति सरकारी धन पाने की हक़दार नहीं है।[18] दिल्ली में आयुर्वेदिक-यूनानी तिब्बिया कॉलेज के उद्घाटन समारोह में ऐसी भावनाएँ गवर्नर-जनरल लॉर्ड हार्डिंग ने भी व्यक्त की। जो बात गवर्नर के व्याख्यान में दबी-ढँकी थी उसी को गवर्नर-जनरल ने अपने भाषण में खोल कर रख दिया: सरकारी सहायता केवल पाश्चात्य आयुर्विज्ञान को दी जाएगी।[19]

आंग्लवादियों की विजय के बाद औपनिवेशिक राज्य ने जिस नीति का अनुसरण किया और जिसकी परिणति मेडिकल अधिनियम में हुई वह न केवल उस पद्धति के कार्यान्वयन की ओर अभिमुख था जिसमें पश्चिमी ज्ञान अंगीभूत था, बल्कि उसके अधीन देशी ज्ञान से संबंधित पद्धति को अवैध बनाने की भी कोशिश की गई। 1822 में सरकार ने देशी चिकित्सकों के लिए कोलकाता में एक स्कूल स्थापित किया जिसके पाठ्यक्रम में यूरोपीय और देशी

पद्धतियों का मिश्रण था। बंबई और मद्रास में भी ऐसे ही स्कूल स्थापित करने का प्रस्ताव किया गया। कोलकाता मद्रास और संस्कृत कालेज में शरीर-रचना विज्ञान और आधुनिक आयुर्विज्ञान को स्थान दिया गया।[20] इन प्रयोगों में निहित सहज मिश्रण की संभावना के विचार को 1835 में त्याग दिया गया और पराधीन जनसमाज के सांस्कृतिक एवं बौद्धिक क्षितिज को पाश्चात्य ज्ञान तक सीमित रखने का रुख अपनाया गया। फलत: देशी चिकित्सक तैयार करने के स्कूल बंद कर दिए गए, संस्कृत कॉलेज और मदरसों में आयुर्विज्ञान की पढ़ाई खत्म कर दी गई और केवल पश्चिमी विज्ञान को समर्पित पाठ्यक्रमों वाली आयुर्विज्ञान संस्थाएँ स्थापित की गईं।[21] देशी आयुर्विज्ञान के चिकित्सकों को फूलने-फलने की निर्बाध संभावना से वंचित करने की सरकारी नीति उनकी दृष्टि से सांस्कृतिक दमन और वंचना की कार्रवाई थी, क्योंकि अपनी आयुर्विज्ञान पद्धति के ज्ञान और उसके प्रयोग को वे केवल अपनी संस्कृति का अंग मानते थे।

देशी आयुर्विज्ञान पद्धतियाँ

पाश्चात्य आयुर्विज्ञान को बढ़ावा देने के इरादे के बावजूद, औपनिवेशक आयुर्विज्ञान के 'लाभ' आबादी के एक छोटे से हिस्से तक सीमित थे। डॉक्टरों की संख्या अत्यल्प थी और अस्पताल तथा औषधालय आबादी के उस छोटे-से हिस्से की भी ज़रूरत पूरी करने की स्थिति में नहीं थे। उदाहरण के लिए, मद्रास प्रेसिडेंसी में 1921 में पश्चिमी पद्धति के केवल 2,272 चिकित्सक और 578 चिकित्सा केंद्र थे। प्रत्येक आयुर्विज्ञान संस्थान औसतन 40,000 लोगों की ज़रूरतें पूरी करता था।[22] चूँकि अधिकांश चिकित्सा केंद्र शहरी क्षेत्रों में स्थित थे इसलिए औपनिवेशिक चिकित्सा सुविधाएँ ग्रामीण आबादी को लगभग अनुपलब्ध थी। मद्रास और कडप्पा ज़िलों की तुलना से शहरी और ग्रामीण क्षेत्रों की असमानता स्पष्ट हो जाती है। मद्रास ज़िले में प्रति 1.4 वर्गमील एक चिकित्सा केंद्र था, जो 27,298 लोगों की आबादी की ज़रूरतें पूरी करता था, लेकिन

कडप्पा के संबंध में यह आँकड़े थे क्रमश: 589.2 और 89, 399।[23]

इसके विपरीत, विभिन्न क्षेत्रों से संबंधित आँकड़ों से पता चलता है कि प्रत्येक गाँव में देसी आयुर्विज्ञान के एकाधिक चिकित्सक थे। बंगाल के अपने 1835-38 के शिक्षा सर्वेक्षण के दौरान विलियम एडम ने पाया कि नेत्तूर ज़िले की 1,95,296 की आबादी और 485 गाँवों में 646 चिकित्सक थे।[24] 1921 की जनगणना के अनुसार, मद्रास प्रेसिडेंसी में देशी पद्धति के 21,000 चिकित्सक थे।[25] इससे भी महत्वपूर्ण बात यह थी कि देशी आयुर्वैज्ञानिक ज्ञान पर किसी जाति-विशेष की इज़ारेदारी नहीं थी, इसीलिए उसका स्वरूप लोकप्रिय था और वह लोगों को सहज सुलभ था। उदाहरण के लिए, केरल में आयुर्वेदिक चिकित्सा का धंधा अष्टवैद्यों, अर्थात आठ ऊपरी जातियों के परिवारों और उनके शिष्यों तक सीमित नहीं था। बहुत सारे आयुर्वेदिक चिकित्सक निम्न,अस्पृश्य जातियों के थे, जिन्होंने ऐसी कई औषधियों के सूत्र तैयार किए जिनका उल्लेख लोकप्रिय मलयालम पोथियों में हुआ है।[26] एलवा समाज के सुधारक नारायण गुरु की आरंभिक लोकप्रियता का आधार उनका आयुर्विज्ञान का ज्ञान और रोगों को दूर करने का सामर्थ्य था।[27] कम-से-कम केरल में आयुर्वेद के ज्ञान पर ऊपरी जातियों का एकाधिकार नहीं था वह जाति तथा धर्म की हदबंदियों से मुक्त था।

औपनिवेशिक आयुर्विज्ञान की सुविधाएँ कभी भी इस हद तक नहीं पहुँची कि वह देशी पद्धतियों का स्थान ले लेतीं। देशी आयुर्विज्ञान पद्धतियों पर विचार करने वाली समितियों ने लक्ष्य किया कि यह पद्धतियाँ 'हमारी आबादी के 10 में से 9 हिस्सों की ज़रूरतें पूरी करती हैं और इतने सारे लोगों को सरकारी चिकित्सा सुविधा का लाभ प्राप्त नहीं है।'[28] जहाँ पश्चिमी चिकित्सा केंद्र मौजूद थे ऐसे क्षेत्रों में भी देशी चिकित्सा की माँग जारी रही। मद्रास नगर के एक ही इलाके में स्थित आयुर्वेदिक तथा पश्चिमी औषधालयों की तुलना से मालूम होता है कि लोग आयुर्वेद का लाभ अधिक

उठाते थे।आयुर्वेदिक औषधालयों ने 1921-22 में 1,22,238 रोगियों का इलाज किया और पाश्चात्य औषधालयों में केवल 37,626 मरीज़ गए। दो और भी बातें उल्लेखनीय हैं, एक तो यह कि आयुर्वेदिक औषधालय में आने वाले रोगियों में मुसलमानों, ईसाइयों और यूरेसियाइयों की तादाद अच्छी-ख़ासी थी। दूसरे, यह कि पाश्चात्य औषधालय में प्रतिदिन प्रति रोगी खर्च आयुर्वेदिक औषधालय के मुकाबले 400प्रतिशत अधिक बैठता था।[29]

औपनिवेशिक आयुर्विज्ञान के सीमित फैलाव एक महत्वपूर्ण अर्थ यह था कि देशी आयुर्विज्ञान को काम का पर्याप्त क्षेत्र प्राप्त था-खासतौर से ग्रामीण इलाकों में। फिर भी देशी पद्धतियों के चिकित्सकों में असुरक्षा की भावना घर कर गई थी, क्योंकि उन्हें पाश्चात्य आयुर्विज्ञान से असमान स्पर्धा का खतरा दिखाई दे रहा था। पाश्चात्य आयुर्विज्ञान द्वारा उपस्थित चुनौती के कारण खुद के हाशिए पर चले जाने की संभावना के एहसास के कारण देशी आयुर्विज्ञान के चिकित्सकों को अपनी कला के प्रति आलोचनात्मक दृष्टि अपनानी पड़ी। उनकी स्थिति के मूल्यांकन में अतीत के प्रति गर्व, वर्तमान से असंतोष तथा भविष्य के संबंध में आशंका की भावना का जटिल मिश्रण था। 19वीं सदी में और 20वीं के आरंभिक दौर में देशी आयुर्विज्ञान में नए प्राणों का संचार करने के प्रयत्न इसी मूल्यांकन से प्रतिफलित हुए।

ताराशंकर बंद्योपाध्याय के बाङ्ला उपन्यास आरोग्य निकेतन में देसी आयुर्विज्ञान के सामने उस दौर में उपस्थित संकट का प्रसंशनीय चित्रण हुआ है जब औपनिवेशिक आयुर्विज्ञान बंगाल के ग्रामीण क्षेत्रों में अपना असर दिखाने लगा था। यह संकट इस उपन्यास के मुख्य पात्र जीवन मोशाय के जीवन में मूर्तिमंत हो उठता है। निदान के अपने अद्भुत कौशल और उपचार की अद्वितीय क्षमता के बावजूद जीवन मोशाय गाँव में पाश्चात्य पद्धति के चिकित्सकों की उपस्थिति के कारण उत्तरोत्तर हाशिए पर चले जा रहे हैं। इसके फलस्वरूप उनका चिकित्सा का धंधा छीजता चला जाता है और उनका पारिवारिक औषधालय आरोग्य निकेतन जो

तीन पीढ़ियों से गाँव की चिकित्सा विषयक आवश्यकताओं की पूर्ति सफलतापूर्वक करता आ रहा था वह वीरान और खंडहर बन कर रह जाता है। उपन्यास का आरंभ इस औषधालय के निम्नलिखित वर्णन से होता है:

उसकी (आरोग्य निकेतन की) स्थापना कोई 80साल पहले हुई थी। आज वह नष्टप्राय है। मिट्टी की दीवारें जहाँ-तहाँ से फट गई है। छप्पर में कई छेद हैं: बीच का हिस्सा नीचे की ओर धँस गया है जैसे किसी कुबड़े की पीठ हो। फिर भी औषधालय जैसे-तैसे टिका हुआ है-अपने अंत की प्रतीक्षा में, उस क्षण की राह देखता जब वह भहराकर ढेर हो जाएगा।[30]

इस औषधालय की स्थिति का ताराशंकर का वर्णन देशी आयुर्विज्ञान के साथ जो कुछ हुआ था उसका प्रतीक है। उसकी अवस्था दुखद और 'दयनीय' थी, ऐसी राय लगभग उन सब लोगों की थी जिन्हें उसके भविष्य की चिंता थी किसी के मन में इस बात में तनिक भी संदेह नहीं था कि चतुर्दिक ह्रास आरंभ हो चुका है, इस विज्ञान में, उसकी औषधियों की गुणवत्ता में और उसके चिकित्सकों के प्रशिक्षण में:

आयुर्वेद की प्राचीनता हम सब के लिए गर्व का विषय हैं, लेकिन कोई भी इस बात से इन्कार नहीं कर सकता कि वर्तमान अवस्था बहुत दुखद है। आंतरिक और बाह्य दोनों कारणों से हमारी आयुर्विज्ञान पद्धति का क्रमिक ह्रास होता गया है, और इसके विपरीत दूसरी पद्धतियाँ उसी हद तक उन्नति करती गई है। पश्चिमी दुनिया के लोग प्रकृति के नियमों की जाँच करते हैं और विज्ञान के नए आयामों का उद्घाटन करते हैं, और इस प्रकार पूर्ववर्ती वैज्ञानिक जानकारी को बार-बार संशोधित करते रहते हैं। दूसरी ओर हम मानते हैं कि पुरान विज्ञान पूर्ण रूप से निर्दोष हैं। फलत: हम न केवल उन्नति करने में नाकामयाब रहे हैं बल्कि दूसरों ने हमें निचली पायदान पर धकेल दिया है। अगर कुछ दिन और यह वस्तुस्थिति कायम रही तो इसमें कोई संदेह नहीं कि आयुर्वेद पूरे तौर पर मिट जाएगा।[31]

समकालीन अवस्था के संबंध में इस दृष्टिकोण में यह धारणा भी समाहित थी कि आयुर्वेद समस्त आयुर्वैज्ञानिक ज्ञान का स्रोत है। क्लासिकी ग्रंथों से उद्धृत इसकी प्राचीनता का उल्लेख करते हुए यह दृष्टि सामने रखी गई कि विश्व की अन्य सभी चिकित्सा पद्धतियों ने अपना आरंभिक ज्ञान आयुर्वेद से ग्रहण किया। अखिल भारतीय आयुर्वेदिक सम्मेलन के अध्यक्ष यामिनीभूषण राय ने कहा, 'विश्व के सभी मनीषी इस बात को स्पष्ट शब्दों में स्वीकार करते हैं कि प्रत्येक विज्ञान के आरंभिक सिद्धांतों का जन्म इसी देश में हुआ। यह सिद्ध करने का पर्याप्त प्रमाण उपलब्ध है कि आयुर्विज्ञान के मूल सिद्धांतों की शिक्षा अरब को सबसे पहले भारतीय आचार्यों और चिकित्सकों ने दी। अरब से मिस्र और यूनान होते हुए आयुर्वेद रोम पहुँचा और फिर वहाँ से पूरे यूरोप और धीरे-धीरे सारी दुनिया में फैल गया।'[32] आयुर्वेद सभी आयुर्वैज्ञानिक ज्ञान की जननी है, इस बात को देशी पद्धतियों के हिमायतियों ने बार-बार दोहराया।[33]

परंतु अतीत के मूल्यांकन का एकमात्र मापदंड पुरातनता ही नहीं थी। प्राचीन ग्रंथों में निहित ज्ञान और चिकित्सा के अमली रूप की जानकारी की स्थिति पर भी उतना ही ज़ोर था। आयुर्वेद के हिमायतियों का कहना था कि उनका ज्ञान और प्रयोग पूर्णता के उच्च स्तर पर जा पहुँचा था, जो बात चरक, सुश्रुत और वाग्भट के ग्रंथों से स्पष्ट है। इन ग्रंथों की टीकाओं और बाद की स्वतंत्र रचनाओं में ऐसी उपचार-विधि विकसित की गई जो सभी संभावित स्थितियों से निबट सकती थी। उनकी पारंगता काय-चिकित्सा तक ही सीमित नहीं थी बल्कि उनमें शल्य-क्रिया का भी कौशल था। प्राचीन ग्रंथों में शल्य-क्रिया के अनेक उपकरणों की सूची दी गई है और साथ ही उनसे संबंधित प्रक्रियाओं का वर्णन किया गया है। रेनोप्लास्टी,चर्मारोपण, नेत्र-शल्य-क्रिया, कपाल छेदन, हड्डी जोड़ना और अंगच्छेदन शल्य-क्रिया के कुछ खास-खास क्षेत्र थे।[34] इसके अतिरिक्त, भारतीयों में न तो शरीर-रचना-विज्ञान के ज्ञान का अभाव था और न वे शवच्छेदन से परहेज़ करते थे।[35]

अतीत की जो व्याख्या देशी आयुर्विज्ञान के हिमायतियों ने की

वह पूरे तौर पर यूरोपीय प्राच्यविदों के एशिया-संबंधी अनुसंधानों पर आधारित नहीं थी। पाश्यात्य शिक्षा प्राप्त बुद्धिजीवियों के विपरीत, उन्हें क्लासिकी ग्रंथ उपलब्ध थे और उनमें उन्हें पढ़ने और उनकी व्याख्या करने की योग्यता थी। तथापि प्राच्यविदों द्वारा भारत के अतीत की खोज आसानी से उनके काम आई। सच तो यह है कि अपने विचारों के समर्थन में वे यूरोपीय विद्वानों के प्रमाण का हवाला अक्सर दिया करते थे। एच.एच.विल्सन, टी.ए.वाइज़ और रोल के विचार, जिनमें देशी आयुर्विज्ञान की उपलब्धियों को रेखांकित किया गया था, औपनिवेशिक दृष्टिकोण का खंडन करने में इस कारण खास तौर पर उपयोगी साबित हुए कि वे यूरोपियों के विचार थे।[36] लेकिन तब देशी आयुर्विज्ञान के भारतीय समर्थकों और प्राच्यविदों के विचार समान नहीं थे। प्राच्यविदों की खोज या तो पुरातनोन्मुख थी या वह अपने अधीनस्थ लोगों के ज्ञान के मनचाही व्याख्या करने के काम में साम्राज्य द्वारा इस्तेमाल किया जाने वाला उपकरण और इस प्रकार औपनिवेशिक वर्चस्व की स्थापना का एक अंग थी। यह दूसरा पहलू लगभग प्रत्येक क्षेत्र पर लागू होता था। इस बात को बहुधा नज़र अंदाज़ कर दिया जाता है। उदाहरण के लिए शिक्षा के मामले में हाल में एक लेखक ने भारतीय और औपनिवेशिक विचारों के बीच के अंतर को घटाकर आँकने की कोशिश की है। उनका आधार यह है कि भारतीय बौद्धिक जनों और औपनिवेशिक अधिकारियों के विचार कई दृष्टियों से समान थे।[37] इस प्रकार के दृष्टिकोण में इस बात की अनदेखी कर दी जाती है कि दोनों की योजनाएँ एक-दूसरे से बिलकुल भिन्न थी। भारतीय बौद्धिक जन सामाजिक पुनर्जागरण की एक दीर्घ दृष्टि लेकर चल रहे थे लेकिन औपनिवेशिक अधिकारियों का लक्ष्य प्रशासनिक प्रबंध तक सीमित था। दृष्टिकोण का यह भेद आयुर्विज्ञान के मामले में भी लागू होता था।

अतीत के उपर्युक्त बोध के कारण खोज का एक प्रमुख विषय यह भी था कि किन परिस्थितियों की वजह से वर्तमान वैसा हो गया जैसा वह है। जैसा कि लेस्ली कहते हैं, इस तरह की खोज का

मतलब पुनरुत्थानवाद का औचित्य सिद्ध करने के लिए किसी सिद्धांत का आविष्कार करने का प्रयत्न नहीं था, बल्कि उसकी अवधारणा सुधार के प्रस्थान-बिंदु के रूप में की गई थी।[38] इसलिए विशेष ध्यान और ह्रास के कारणों पर दिया गया, और ये कारण कुछ तो इस पद्धति के अंदर ही मौजूद थे और कुछ बाहरी शक्तियों के दबाव से उत्पन्न हुए थे।

आंतरिक कारण तीन बातों पर आधारित थे: ज्ञान की गतिहीनता, चिकित्सकों का अज्ञान और अच्छी औषधियों की अनुपलब्धता। देशी पद्धतियों का मुख्य दोष है था कि उनका ज्ञान पुराना पड़ चुका था। क्लासिकी ग्रंथ चाहे जितने अच्छे रहे हो, उनमें निहित ज्ञान गतिशून्य रह गया था; क्योंकि उसके प्रयोग द्वारा तथा उसे नए अनुभवों से जोड़कर उसमें सुधार करने का कोई ठोस प्रयत्न नहीं किया गया। आयुर्वेद कुल मिलाकर उन परिस्थितियों तथा सामाजिक प्रयत्नों के प्रति उदासीन बना रहा जो उसके गौरव ग्रंथों की रचना के बाद सामने आए थे, और इसीलिए उसकी उपचार-पद्धति का वास्तविकता से कोई वास्ता नहीं रह गया था।[39] फलत:आयुर्वेद समय के साथ कदम-से-कदम मिलाकर नहीं चल पाया और सदियों पूर्व विकसित ज्ञान के दायरे में ही रहा। समकालीन चिकित्सकों ने इस ज्ञान को भी पूरे तौर पर आत्मसात नहीं किया। क्लासिकी ग्रंथ या तो सहज सुलभ नहीं थे या थे तो अधिकांश चिकित्सकों को उसकी भाषा पर अधिकार नहीं था कि वह उन में संचित ज्ञान को ठीक से ग्रहण कर पाते। अपेक्षाकृत आसानी से उपलब्ध ग्रंथों और प्रचलित भाषा में लिखी उनकी टीकाओं का भी पर्याप्त उपयोग नहीं किया गया। इन ग्रंथों पर अधिकार प्राप्त करने और इस प्रकार इस विषय के मूल सिद्धांतों को ग्रहण करने के बदलेअधिकतर चिकित्सकों ने बड़े वैद्यों से अल्पकालीन प्रशिक्षण ग्रहण करने के दौरान ज़बानी तौर पर कुछ सीख लेने का आसान रास्ता अपनाया। नतीजा यह हुआ कि उन्नीसवीं सदी का अंत होते-होते अधिकतर देशी चिकित्सक अपने धंधे के कौशल से विहीन हो गए और भोलेभाले रोगियों का काम उधार के नुस्खों से चलाने

लगे। उनका एकमात्र लक्ष्य और रुचि जीविका कमाना रह गई।[40] इस प्रकार यह कोई आश्चर्य की बात नहीं है कि उनके हाथों में पहुँचकर देशी आयुर्विज्ञान अपनी प्रभावकारिता और प्रामाणिकता खो बैठी।

यह महसूस किया गया कि औषधियाँ बनाने के लिए काम में लाए जाने वाले तरीके देशी पद्धतियों का एक और दोष है। बहुत कम औषधियाँ तैयार रूप में मिलती थी और इसीलिए रोगियों को वैद्यों द्वारा दिए गए नुस्खों के आधार पर खुद ही दवाएँ बनानी पड़ती थीं। रोगी जो औषधियाँ तैयार करते थे वे अक्सर नुस्खे पर पूरी नहीं उतरती थीं। कभी तो उनकी जड़ी बूटियों में कमी रह जाती और कभी विधि में। फलत: जो दवा देने का वैद्य का इरादा रहता था वह जो दवा सचमुच रोगी को मिलती थी उससे बहुत भिन्न होती थी। दवा की गुणवत्ता सुनिश्चित करने की किसी विधि के अभाव में योग्य वैद्य का उपचार भी बहुधा निष्प्रभावी साबित होता था।[41] इन आंतरिक दोषों का इन पद्धतियों को मिलनेवाले राजनीतिक तथा सामाजिक दोनों प्रकार के संरक्षण से भी संबंध था। समकालीन उपेक्षा पर टिप्पणी करते हुए देशी पद्धति पर विचार करने के लिए गठित समिति ने कहा कि देशी पद्धतियाँ 'एक ओर तो राज्य तथा अन्य लोगों के निष्ठुर, बल्कि भयावह उपेक्षा' का शिकार रही है', 'जिन्हें उनका स्वाभाविक और कृतज्ञ संरक्षक होना चाहिए था और दूसरी ओर उनके सामने किसी 'प्रतिद्वंद्वी' की भीषण बाधा उपस्थित है जिसे राज्य की मान्यता और समर्थन का एकाधिकार प्राप्त है। इन परिस्थितियों में आश्चर्य नहीं है कि भारतीय पद्धतियाँ मुरझा गई हैं बल्कि यह है कि वे आज भी कैसे जीवित हैं।'[42]

देशी पद्धतियों के ह्रास की सभी चर्चाओं में औपनिवेशिक राज्य के शत्रुतापूर्ण रुख के प्रभाव का ज़िक्र प्रमुख रूप से किया गया। नई राजनीतिक व्यवस्था के अधीन वे न केवल संरक्षण से वंचित हो गई बल्कि उन्हें पाश्चात्य आयुर्विज्ञान के साथ समान स्तर पर स्पर्धा करने के मौके से भी महरूम कर दिया गया। इसलिए ह्रास का मुख्य कारण राजनीतिक सत्ता छीनना माना गया। देशी

पद्धतियों के एक उग्र समर्थक ने कहा, 'हमें राजनीतिक सत्ता दो तो हम दिखा देंगे कि कौन सी पद्धति प्रभावकारी, वैज्ञानिक और श्रेष्ठ है। भारत में पाश्चात्य आयुर्विज्ञान की सफलता का कारण निसंदेह सरकार का समर्थन है।'[43]

विदेशी राजनीतिक प्रभुत्व के फलितार्थ संरक्षण खो बैठने और रोज़गार के अवसर छीने जाने तक ही सीमित नहीं थे। देशी पद्धति को प्राप्त सामाजिक समर्थन के क्षेत्र में भी उतने ही स्पष्ट थे। पूर्व भारतीय शासक वर्ग देशी पद्धतियों के संपोषण का एक प्रमुख स्रोत था।[44] औपनिवेशिक शासन की स्थापना के फलस्वरूप सत्ता संरचना से उनके स्थानच्युत होने जाने से देशी पद्धतियाँ एक प्रमुख समर्थन से वंचित हो गईं। शिक्षित वर्गों ने अधिक व्यवस्थित और पेशेवर ढंग पर संगठित पाश्चात्य आयुर्विज्ञान को जो तरजीह दी उसका परिणाम भी यही हुआ। इस प्रकार देशी पद्धतियाँ राजनीतिक संरक्षण तथा सामाजिक समर्थन दोनों दृष्टियों से हाशिए पर चली गईं।

हालाँकि तत्कालीन समस्या की जड़ औपनिवेशिक राज्य की भेदभाव पूर्ण नीति थी लेकिन देशी पद्धतियों की गतिहीनता और ह्रास का कारण स्वयं प्राचीन काल में निर्दिष्ट किया गया है। ऐसे महसूस किया गया कि सिद्धांत और व्यवहार के बीच के जिस संबंध पर सुश्रुत ने ज़ोर दिया था उसे नज़रअंदाज़ कर दिया गया। कहा गया कि इस संबंध-विच्छेद का कारण बौद्ध धर्म था, जिसमें प्राणियों के अंगविच्छेदन की कार्रवाई को हतोत्साहित किया गया।[45] शल्य-क्रिया पर इसका विशेष प्रभाव पड़ा। उन्नीसवीं सदी आते-आते यह क्रिया इस प्रकार लुप्त हो गई कि इसे फिर से आरंभ करना लगभग असंभव हो गया। मध्यकाल में, जब मुसलमान शासकों और सरदारों द्वारा यूनानी पद्धति को दिया गया संरक्षण आयुर्वेद के लिए नुकसानदेह साबित हुआ, आयुर्वेद के ह्रास का सिलसिला जारी रहा।[46] फिर भी इस दौर में जो कुछ हुआ वह गुणवत्ता की दृष्टि से औपनिवेशिक काल की परिघटनाओं से भिन्न था, क्योंकि इस काल में तो देशी पद्धतियों के सामने बिल्कुल मिट जाने की आशंका उपस्थित हो गई। देशी आयुर्विज्ञान को पुनर्जीवित

करने का आंदोलन इसी आशंका में से उत्पन्न हुआ।

पुनर्जागरण आंदोलन उतरती 19वीं और चढ़ती बीसवीं सदियों में चल रहे सामान्य सांस्कृतिक-बौद्धिक पुनरुत्थान का अंग था; वह कोई अलग परिघटना नहीं था। ह्रास के प्रति सजगता भारत के लगभग सभी हिस्सों में और खासतौर से बंगाल, महाराष्ट्र, राजस्थान, तमिलनाडु और केरल में स्पष्ट देखी जा सकती है। यह दो विशेषताएँ इस आंदोलन के अभिन्न अंग थीं। उसका सामान्य रूप सांस्कृतिक था और उसकी अभिव्यक्ति क्षेत्रीय तथा राष्ट्रीय किस्म की थी। व्यक्तियों तथा संस्थाओं ने क्षेत्रीय स्तर पर इस पद्धति के अंदर की संभावनाओं की तलाश शुरू की अंत में एक सामान्य प्रयत्न में मिलकर एकाकार हो गईं। इस प्रयत्न को संगठनात्मक रूप 1907 के आयुर्वेद महासम्मेलन में मिला।[47] क्षेत्रीय सीमाओं से परे सांस्कृतिक संबंधों तथा जुड़ाओं ने इस आंदोलन को एक सामाजिक तथा राजनीतिक अर्थ प्रदान किया। तथापि देशी पद्धतियों की विभिन्न धाराएँ किसी एक मंच की सृष्टि नहीं कर पाई, हालाँकि उनमें हितों की एकता तथा उनके व्यवहारिक रूप का नियमन करने वाले सिद्धांतों की समानता का उन्हें बोध था। मालूम होता है, पहले अलग-अलग पद्धतियों के बीच जो आदान-प्रदान चलता था वह भी बंद हो गया। अब उनमें से प्रत्येक का पाश्चात्य आयुर्विज्ञान से अधिक सरोकार था। इसके बावजूद पुनर्जागरण आंदोलन ने सांस्कृतिक सरोकारों को रेखांकित किया और साथ ही औपनिवेशिक समाज में वर्चस्व के संघर्ष को भी प्रतिबिंबित किया।

❑

(औपनिवेशिक भारत में सांस्कृतिक और विचारात्मक संघर्ष:के.एन.पणिक्कर, ग्रंथशिल्पी, इंडिया, प्राइवेट लिमिटेड से सविनय साभार.)

अंग्रेज़ी से अनुवाद: आदित्यनारायण सिंह

हिंदी के ख्यातिलब्ध अनुवादक
गांधी वाङ्मय के संपादन विभाग से संबद्ध
सैनिक समाचार के प्रधान संपादक

संदर्भ और टिप्पणियाँ

1. लेकिन ऐडवर्ड शिल्स जैसे विद्वानों की राय सही नहीं है कि औपनिवेशिक भारत में सब के सब बौद्धिक जन पश्चिमी प्रभाव की देन थे।
2. ए. एल. बैशम, 'प्रैक्टिस ऑफ़ मेडिसिन इन एनशिएंट एंड मेडिएवल इंडिया',चार्ल्स लेस्ली (सं.) एशियन मेडिकल सिस्टम:ए स्टडी, बर्कले, 1976,पृ. 40
3. ए. अब्दुल हमीद, फिजिशियन-आथर्स ऑफ़ ग्रीको-अरब मेडिसिन इन इंडिया, नई दिल्ली तिथि रहित पृष्ठ 17
4. एम.अली, 'आयुर्वेदिक ड्रग्स इन यूनानी मटेरिया मेडिका', एनशिएंट साइंस लाइफ़, अप्रैल 1990, पृष्ठ191-200
5. पी. वी. कृष्ण वारियर, आर्यवैद्यचरितम्, त्रिचूर 1904-05 पृष्ठ 52,89.
6. चार्ल्स लेस्ली, 'दि एंबिग्यूटीज़ ऑफ़ मेडिकल रिवाइलिज़्म इन मॉडर्न इंडिया', लेस्ली (सं.)एशियन मेडिकल सिस्टम, पृष्ठ 356
7. इस मुहावरे का उपयोग डेनियल हेड्रिक ने दी टूल्स ऑफ़ एंपायर: टेक्नोलॉजी एंड यूरोपीयन इंपिरियलिज्म इन दि हिंदी नाइंटीन्थ सेंचुरी (न्यूयॉर्क1981) में किया गया।
8. राय मैक्लिअड, 'इंट्रोडक्शन', राय मैक्लिअड़ और मिल्टन लुईस (सं), डिजीज, मेडिसिन एंड एंपायर: पर्सपेक्टव ऑन वेस्टर्न मेडिसिन एंड दि एक्सपीरियंस ऑफ यूरोपियन एक्सपेंशन लंदन, 1988, पृ.1 साथ ही देखिए डेविड, आर्नोल्ड (सं), एम्पिरियल मेडिसिन एंड इंडीजीनियस सोसायटीज, दिल्ली

1989
9. राममोहन राय, 'ए लेटर टू लॉर्ड एमहर्स्ट ऑन इंग्लिश एजुकेशन', दि इंग्लिश वर्क ऑफ़ राजा राममोहन राय, इलाहाबाद, 1906 पृ.472
11. वही, पृ.472-74
12. वसंत एन. नाइक, काशीनाथ त्रिंबक तेलंग, मद्रास, तिथिरहित, पृ.41
13. बंबई सरकार, विधि विभाग, जिल्द 3,1912, पृ.17.
14. वही पृ.18
15. बाम्बे मेडिकल एक्ट, 1912 पैरा 10 और 11
16. वही, 'दि शेड्यूल'
17. बंबई सरकार, विधि विभाग, जिल्द 1, 1912, पृ.19.
19. वही, 6 नवंबर 1917
20. चार्ल्स लेस्ली, 'दि प्रोफेशनलाइजिंग आईडियोलॉजी ऑफ़ मेडिकल रिवाइवलिज्म', मिल्टन सिंजर (सं) एंटर्प्रिन्नयोरशिप एंड मार्जिनलाइजेशन ऑक्यूपेशनल कल्चर इन साउथ एशिया, 1973, पृ.220 ओ.पी. जग्गी, वेस्टर्न मेडिसिन इन इंडिया: सोशल इम्पैक्ट, दिल्ली,1980, पृ.10
21. पूनम बाला, इंपीरियलिज्म एंड मेडिसिन इन बंगाल, नई दिल्ली, 1991, पृ.47
22. रिपोर्ट ऑफ दि उस्मान कमेटी ऑन द इंडिजिनियस सिस्टम ऑफ़ मेडिसिन जिल्द I, मद्रास,1923, पृ.9
23. वही
24. विलियम एडम, रिपोर्ट ऑन दि स्टेट ऑफ़ एजुकेशन इन बंगाल, 1835, कोलकत्ता, पृ.515
25. रिपोर्ट ऑन दि इंडिजिनियस सिस्टम, पृ.19
26. एन.वी.कृष्ण कुट्टी वारियर, आयुर्वेद चरितम, कोट्टाक्कल, 1980, पृ.344
27. पी. चंद्रमोहन, 'सोशल कॉन्शसनेस इन केरल', अप्रकाशित एम.फिल. शोध-प्रबंध, जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय, दिल्ली.

28. रिपोर्ट ऑन दि इंडीजीनस सिस्टम, पृ.13
29. वही, पृ.6
30. ताराशंकर बंधोपाध्याय, आरोग्य निकेतन (मलयालम अनुवाद) कोट्टायम, 1961, पृ.1
31. धन्वन्तरी,16 अगस्त 1913
32. अध्यक्षीय अभिभाषण, अखिल भारतीय आयुवेर्दिक सम्मेलन, सातवां अधिवेशन (मद्रास1915), कलकत्ता, 1916, पृ.6
33. सुधा निधि,जिल्द 2, अंक 2
34. एस.एम.मिश्र, हिन्दू मेडिसिन, लंदन, 1914
35. सुधा निधि, जिल्द 2, अंक 4
36. 'पूरी संभावना है कि इस आरंभिक काल में (ईसवी सन से तीन सदी पूर्व) ही उन्होंने उपचार कला का अध्ययन इतनी सफलता के साथ किया कि वह आयुर्विज्ञान पर सुसंहत कृतियों का प्रणयन कर पाए, और इसके लिए उन्होंने ज्ञान के उसे स्रोत का सहारा लिया जिसका कि मानव जाति का पूर्वाग्रह इतना प्रबल विरोधी है। सुश्रुत का कहना है कि विद्वान वैद्य को पुस्तकीय ज्ञान या सैद्धांतिक ज्ञान प्राप्त करने के साथ ही शरीरच्छेदन क्रिया और चिकित्सा के व्यावहारिक रूप में भी कुशल होना चाहिए। यही कारण था कि हिंदू आयुर्विज्ञान की प्राचीन पद्धति सभी दृष्टि ओं से इतना अधिक परिपूर्ण था, और उसका प्रभाव इतना अधिक स्थाई था कि यह निष्कर्ष निकालना पड़ता है कि उसे विकसित करने में कई सदियों का काल लगा होगा'। टी.ए. वाइज, दि हिन्दू सिस्टम ऑफ मेडिसिन, नई दिल्ली, 1986 (पुनर्मुद्रण), पृ.xviii.
37. कृष्ण कुमार, पॉलीटिकल एजेंडा ऑफ एजुकेशन: ए स्टडी ऑफ़ कोलोनियलिस्ट अँड नेशनलिस्ट आयडियाज़, नई दिल्ली, 1991
38. लेस्ली, 'दि एम्बिग्युडीटीज.ऑफ मेडिकल रिवाइवलिज्म इन मॉडर्न इंडिया', लेस्ली(सं.), एशियन मेडिकल सिस्टम, पृ.362

39. पूनमचंद तनसुख व्यास, 'दि प्रजेंट ऐब्जेक्ट स्टेट', सुधा निधि, जिल्द I, अंक 2. साथ ही देखिए पी.एस.वारियर का साक्ष्य, रिपोर्ट ऑन दि इंडीजीनस सिस्टम, जिल्द II, साक्ष्य, पृ.215-19
40. धन्वन्तरी, 15 दिसंबर 1916
41. वही, 13 फरवरी 1916
42. रिपोर्ट ऑन दि इंडीजीनस सिस्टम, पृ.10
43. वी. नारायण नायर, 'अवर प्रेजेंट स्टेट एंड फ्यूचर प्रोस्पेक्ट्स (एन अपील फॉर दि स्प्रेड ऑफ आयुर्वेद)' (मलयालम), कोट्टाक्कल, 1921, पृ.12-13
44. केरल में अष्टवैद्यों को राज्य की ओर से लगान-मुक्त जमीन मिली थी। 'धन्वन्तरी', 14 जून 1917
45. वही
46. वारियर, आर्यवैद्य चरितम, पृ.88-89 लेकिन उल्लेखनीय है कि यूनानी पद्धति को देशी माना जाता था।
47. पूनम बाला, 'दि स्टेट एंड इंडीजीनस मेडिसिन सम एक्सप्लोरेशनस ऑन दि इंटरेक्शन बिटवीन आयुर्वेद एंड दि इंडियन स्टेट', अप्रकाशित एम.फिल. शोध-प्रबंध, जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय, नई दिल्ली, 1982, पृ.94

आज गांधी होते तो क्या करते?

● डॉ. अभय बंग

आज का वैश्विक संकट तिहरा है। कोविड महामारी, गहन व्यापक आर्थिक मंदी तथा मानव अस्तित्व को खतरे में डालनेवाला पर्यावरणीय परिवर्तन। इन सबके अलावा, ऐसी परिस्थिति में राह दिखानेवाले राजनीतिक व नैतिक नेतृत्व का दुनियाभर में अभाव है। इसलिए उत्तर तो कहीं और ही ढूँढ़ना पड़ेगा! महात्मा गांधी के सामने यह चुनौती खड़ी होती तो उन्होंने क्या किया होता? इस का जवाब कहाँ खोजा जाय? यह तो वे खुद कह ही गए हैं-'मेरा जीवन ही मेरा संदेश है।' अत: गांधीजी का उत्तर उनके जीवन में खोजना पड़ेगा।

उनके उत्तर में कुछ विशेषताएँ तो समान होंगी। पहली तो यह कि दूसरों को उपदेश करने की बजाय सबसे पहले वे स्वयं उसका आचरण करते। तभी तो आत्मश्लाघा प्रतीत हो ऐसा वाक्य-"मेरा जीवन ही मेरा संदेश है'' वे बोल पाए। हम बोल सकते हैं क्या? बोलकर तो देखिए। ज़बान लड़खड़ाएगी। दूसरे, वे कोई भी कार्य सबसे पहले स्थानीय स्तर पर ही करते। दुनिया बदलने के लिए दुनिया के पीछे नहीं भागते। मिट्टी के एक कण में पृथ्वी देख

सकनेवाली दृष्टि थी उनके पास। मैं जहाँ हूँ वहीं मेरा 'स्व-देश' है। मेरा कार्य यही आरंभ होगा। क्योंकि मैं सिर्फ यहीं कार्य कर सकता हूँ। तीसरे, आरंभ में उनका कार्य मामूली या बचकाना लग सकता है, जैसे मुट्ठीभर नमक उठाना या सूत कातना। लेकिन ज़रा रुकिए; इससे इतिहास बदल जाएगा।

'आज आप क्या करते?' ऐसा प्रश्न गांधीजी के समक्ष रखने का 'विचार प्रयोग' मैंने कर देखा और मुझे जो नौ सूत्री कार्यक्रम मिला, वह ऐसा:

1) भयमुक्ति: आज विषाणु की अपेक्षा विषाणु का भय अधिक पैमाने पर फैला हुआ है। गांधी सबसे पहले हमसे कहते-'निर्भय होओ!' एक तो डर मनुष्य को शक्तिहीन बनानेवाला घातक भाव है। दूसरे, विषाणु की वजह से होनेवाली मृत्यु की संभावना हमारी आबादी में बेहद कम है। इसका हौआ खड़ा करने की ज़रूरत नहीं। उनका आख़िरी तर्क होता-मृत्यु का कैसा भय? किसे? शरीर मरा भी तो आत्मा अमर है। तुम शरीर नहीं, आत्मा हो। तुम थोड़े ही मरोगे? भय काल्पनिक असत्य होने के कारण अपने आप पिघलकर लुप्त होने लगेगा।

2) रुग्णसेवा: रोगियों की सेवा, गांधीजी की सहजप्रवृत्ति थी। बोअर युद्ध, प्रथम विश्वयुद्ध, भारत में महामारियों के दौरान, कुष्ठरोग के शिकार विकलांग परचुरे शास्त्री को अपनी कुटिया के करीब रखकर स्वयं उनकी सुश्रूषा, इसी के उदाहरण हैं। करोनाग्रस्त रोगियों की देखभाल वे स्वयं करते, यह करते हुए स्वच्छता रखना, हाथ धोना, मुँह पर मास्क जैसे सभी वैज्ञानिक निर्देशों का सटीक पालन करते हुए वे रोगियों की प्रत्यक्ष सेवा करते।

स्वतंत्र होने ही वाले भारत के लिए उचित चिकित्सा पद्धति तथा स्वास्थ्य व्यवस्था की खोज में गांधीजी पुणे के करीब उरळी कांचन गाँव में रहते हुए 1946 में प्रयोग करने लगे। डॉक्टर और दवाईयों के खर्च पर निर्भर रहने की अपेक्षा लोगों के लिए आत्मनिर्भर एवं

स्वास्थ्य-स्वातंत्र्य प्रदान करनेवाली सस्ती और सहज पद्धति की तलाश में थे वे। आज भी वे वैसी ही पद्धति का प्रयोग करते। शरीर की रोग प्रतिरोधक नैसर्गिक क्षमता पर गांधीजी भरोसा रखते थे। उसे वे प्राकृतिक चिकित्सा कहते थे। वे कह रहे होते-'प्रकृति को अवकाश दो।' करोना संसर्ग की चपेट में आए अधिकांश मरीज़ अपने आप ठीक होते हैं, अत: यह पद्धति उचित ही सिद्ध होती। गंभीर मरीज़ों को छोड़ें तो आज भी कोविड बीमारी के लिए यही पद्धति योग्य है। कोविड काल में आज की चिकित्सा व्यवस्था आवश्यक सेवा आपूर्ति में असमर्थ साबित हो रही है। इन हालात में निरोगी जीवनशैली का गांधीजी का आग्रह, अपना स्वास्थ्य स्वयं सँभालने की क्षमता और यथासंभव अपने ग्रामसमूह में ही उपचार की सुविधा ऐसी ही स्वास्थ्य व्यवस्था को हम 'आरोग्य-स्वराज्य' कह सकते हैं। कोविड महामारी का उत्कृष्ट उत्तर है-'आरोग्य-स्वराज्य।' इसके बावजूद चुने हुए अत्यंत गंभीर मरीजों को उन्होंने अस्पताल भेजा ही होता। व्यसनों के प्रति उनका विरोध तो जगजाहिर है। उनकी व्यसनमुक्त जीवनशैली करोना के ख़िलाफ प्रभावी उपाय तो होती ही, साथ ही अन्य बीमारियों और मृत्युदर में भी कमी कर सकती।

3) दूसरी दांडी यात्रा: कर्त्तव्यबोध के लिए गांधीजी का दिया 'जादू का जंतर' जगप्रसिद्ध है-"आज तक तुमने सबसे दुखी, सबसे निर्बल जिस आदमी को देखा है, उसे याद करो। वह तुम्हारा कर्त्तव्य है।'' गांधी होते तो किसका चुनाव करते? बहुत खोजने की ज़रूरत नहीं। करोना के चलते लादी गई संपूर्ण तालाबंदी की वजह से शहरों के बेरोज़गार और बेकार जो अपने गाँवों को लौटने को बाध्य हो गए, जिनके लौटने के साधन तक शासन ने बंद कर दिए, जिसकी वजह से इंसानों के झुंड के झुंड हज़ारों किलोमीटर पैदल चलने को मजबूर हो गए। भूखे-प्यासे, थके, पैदल चलते मज़दूर ये होते गांधीजी के जंतर। गांधीजी होते तो दिल्ली छोड़ इन विस्थापितों के बीच जाते। इन्हें भोजन, दवाई आसरा देने की व्यवस्था की होती। और इससे भी ज़्यादा महत्त्वपूर्ण, उनका आत्मसम्मान और उम्मीद जीवित रखते।

मुझे यकीन है कि विस्थापितों मजदूरों के प्रति एकरुपता जताने और सरकार की क्रूर ग़ैरज़िम्मेदारी के विरोध में वे आज विस्थापितों के साथ करते होते-दूसरी दांडी यात्रा।

4) धार्मिक व सामाजिक एकता: गांधीजी के जीवन का यह अंतिम किंतु अधूरा रह गया कार्य है। भारत के हिंदुओं और मुसलमानों के बीच द्वेष व हिंसा की वजह से उन्हें मर्मांतक पीड़ा हुई। इस वक्त भी जब करोना विषाणु हमारी दहलीज़ में दाख़िल हो चुका था, हमारे कई नेता सांप्रदायिकता की आग लगाने में लगे हुए थे। दिल्ली के हिंदू-मुस्लिम दंगों से विभाजनपूर्व भारत के हालात बनते दीख पड़ते हैं। यह द्वेष इतना अंधा हो चुका है कि भारत में करोना प्रसार का ठीकरा एक विशिष्ट धार्मिक पंथ की ग़लतियों पर फोड़ने का प्रयत्न किया गया। ग़लती तो सभी ने की। 31 जनवरी को करोना भारत में आ चुका था। उसके लगभग एक महीने बाद अमरीकी राष्ट्रपति डोनाल्ड ट्रंप के भव्य स्वागत के लिए अहमदाबाद में लाखों लोगों की भीड़ जुटाई गई। पर ग़लतियाँ निकालते समय धार्मिक भेदभाव किया गया। भारतीय समाज को खंडित करने में ही प्रतिष्ठा माना जा रहा है। ऐसी स्थिति में गांधी ने क्या किया होता?

गांधी ने इस समस्या को भी विषाणु जितना ही महत्त्व दिया होता। सर्वधर्म समभाव तथा उपनिषद की 'ईशावास्यमिदंसर्वम.....' ईश्वर सर्वत्र व्याप्त है, यह सच्ची भारतीय निष्ठा उन्होंने अपने प्रत्यक्ष आचरण से व्यक्त की होती। बिना किसी भेदभाव के लोगों की सेवा की होती। एक दूसरे के मुहल्ले में सेवा करने के लिए लोगों को भेजा होता। प्रार्थना के लिए लोगों को एकजुट किया होता। सैंकड़ों टुकड़ों में बिखरे भारतीय समाज में से एक समाज के निर्माण का प्रयत्न किया होता, भले हि इसके फलस्वरूप उनकी दूसरी बार हत्या का खतरा उन्हे मोल लेना पडता।

5) मेरा पड़ोसी मेरी जिम्मेदारी: करोना ने आज सभी को अकेला कर दिया है। एक दूसरे के संपर्क से लोग बच रहे हैं, टाल

रहे हैं। संपर्क ही नहीं तो पड़ोस कैसा? और पड़ोस ही न रहा तो कैसी सामूहिकता, कैसा समाज? मुझे तो ऐसा लग रहा है कि गांधी ने मौजूदा शासकीय और मानसिक पाबंदियों को सर्वथा नकार ही दिया होता। पड़ोसी की सेवा करना यह मेरा धर्म है, ऐसा सत्याग्रह किया होता। उन्होंने कहा होता कि मजबूत स्थानीय संबंधों के अभाव में राष्ट्र निर्माण संभव नहीं। इस तरह की नैतिक भूमिका के लिए किसी गांधी की ही आवश्यकता होती है। रोगप्रसार रोकने का पूरा ख़याल रखते हुए उन्होंने पड़ोसियों की देखभाल शुरुआत की होती। तब अनायास भ्रम की चादर हटने लगती। हमें स्पष्ट दिखाई पड़ रहा होता कि महामारी का डर और सरकार की नीतियों ने इंसान को इंसान से दूर हटाकर करोना का प्रसार तो नहीं थमा। बल्कि प्रत्येक व्यक्ति अस्पृश्य हो गया।

6) ग़लतियों का स्वीकार: करोना महामारी का सामना करते हुए वर्तमान नेतृत्व ने अनेक ग़लतियाँ कीं। जनवरी-फरवरी में 40 लाख प्रवासियों को हवाई मार्ग से भारत में आने दिया गया जिनमें से सिर्फ 38000 लोगों का ही करोना परीक्षण किया गया। इस वजह से करोना भारत में घुसा। इन 40 लाख लोगों के सुव्यवस्थित विलगीकरण की बजाय 134 करोड़ लोगों को तालाबंदी की सज़ दी गई। करोना के विरुद्ध इस युद्ध में जागतिक और राष्ट्रीय नेतृत्व ने अपने घोषित उद्देश्य बार बार बदले-विषाणु का प्रवेश निषिद्ध, फिर कंटेन्मेंट, फिर मरीज़ों की संख्या दुगुनी होने का समय बढाना (डबलिंग टाइम), फिर मृतकों की संख्या सीमित रखना और अब 'करोना के साथ जीना सीखें'....हार गए तो उद्देश्य ही बदल कर जीतने का दावा जारी।

एक नई बीमारी के बारे में समुचित ज्ञान और उपचार न होने से निर्णय लेने में गलतियाँ होना स्वाभाविक है। किंतु 'हमारी पध्दति असफल हुई' यह प्रामाणिक स्वीकारोक्ति कहाँ है? गांधी ने यह सत्य जाहिर किया होता। जनता से सच बोला होता। 'हिमालय जैसी ग़लती मुझसे हुई है', ऐसी जवाबदेही स्वीकारी होती। और आश्चर्य यह कि

इस वजह से लोगों का उन पर विश्वास बढ़ा ही होता।

7) स्थानीय स्वराज: वुहान में एक विषाणु पैदा हुआ और वैश्विक अर्थव्यवस्था पर फिर से संकट आ गया। महाकाय अर्थव्यवस्था ने दगा दे दिया। गांधी याद दिलाएँगे कि स्थानीय उत्पादन, स्थानीय उपयोग तथा परस्पर संबद्ध स्थानीय लघु समूह, अधिक स्थायी एवं मानवीय प्रारूप हैं। इसे वे 'ग्राम स्वराज' कहते थे। परावलंब आते ही आज़ादी ख़तरे में पड़ जाती है। इस वजह से गांधी स्थानीय, यथासंभव स्वयंपूर्ण अर्थव्यवस्था सुझाते।

अर्थव्यवस्था में 'महाकाय' की जगह पर 'स्थानीय' यह परिवर्तन होता तो साथ ही राजनीतिक व प्रशासनिक सत्ता में भी विकेंद्रीकरण हो जाता। 'ग्लोबलाइझेशन' के युग में सर्वत्र तानाशाही प्रवृत्ति के राजनेताओं का उदय हुआ है। पूँजीवाद और उदारवाद द्वारा स्वतंत्रता के आश्वासनों के बावजूद इन नेताओं ने जन सामान्य तथा संचार माध्यमों की स्वतंत्रता का हनन करते हुए लोगों को भयग्रस्त कर रखा है। किंतु कोविड महामारी ने जागतिक सत्ताव्यवस्था और अर्थव्यवस्था पर प्रश्नचिह्न लगा दिया है। कोई भी केंद्रीय सत्ता हमें नहीं बचा सकती। वह सिर्फ़ झूठे दावे करती है, इसका अहसास हम सभी को हो ही गया है। गांधी हमें अहिंसक ढंग से, धीमे-धीमे इस महाकाय राक्षसी आर्थिक-राजनीतिक व्यवस्था से छोटे-छोटे स्थानीय समूहों की मानवीय व्यवस्था की ओर ले जाते। सच्चे रिश्ते व खरा लोकतंत्र इस बिना चेहरेवाली वैश्विक अर्थव्यवस्था की बजाय एक दूसरे को जानने-पहचाननेवाले स्थानीय मानव समुदायों के बीच ही फलफूल सकती है।

8) आवश्यकता का विवेक: 'किंतु हमारी जरूरतों का क्या?' आधुनिक समाज के महोत्पादन के कुछ उपभोक्ता जरूर पूछेंगे। गांधी उन्हें समझाते...कभी भी संतुष्ट न होनेवाली उपभोग की कामना, आठों पहर ऐंद्रिक उत्तेजना के माध्यम से सुख का छलावा देनेवाली भोगेच्छा, यह तुम्हारी स्वाभाविक जरूरत न होकर कृत्रिम ढंग से रोपी

गई अप्राकृत्रिम आदत है। महाकाय उत्पादन व्यवस्था चलाने और बाज़ार के विस्तार के लिए तुम्हारा अनिवार उपभोग करना ज़रूरी है। दरअसल तुम उपभोग नहीं कर रहे, तुम्हारा उपभोग किया जा रहा है। पलभर रूककर शांति से अपने भीतर झाँको! इनमें से कितने उपभोग तुम्हारे तन, मन, बुद्धि को निरोगी व सक्रिय रखने के लिए ज़रूरी हैं? और कितनी आदतें नक़ली हैं? लोभ?

गांधी कहते थे, "यह धरती सभी की जरूरतें पूरी करने के लिए काफ़ी है लेकिन लालच के लिए धरती बहुत छोटी है।'' ज़रूरत और लालच के बीच विवेक का सामर्थ्य, सबकी जरूरतें पूरी करनेवाली किंतु लालच पर नियंत्रण रखनेवाली समाजव्यवस्था व नैतिकता की ओर हमें गांधी ही लेकर जाएँगे। स्वराज की व्याख्या ही उन्होंने ऐसे की थ-'स्वत: का राज्य नहीं, स्वत: पर राज्य।'

जब हम विवेक से अपनी जरूरतों पर नियंत्रण करेंगे, तब हमें अहसास होगा कि आधुनिक समाज की अनेक अतियों के बावजूद जीवन आनंदमय हो सकता है। अनावश्यक महोत्पादन और उपभोग, उनको पूरा करने हेतू कारखानों के महाचक्र, पागल प्रवास और वाहन ये सब थमने लगेंगे। धूल और धूंआ कम होने लगेगा। आकाश और जलाशय फिरसे साफ और नीले होने लगेंगे। कोविड काल की तालाबंदी के दौरान इसकी एक झलक हमने देखी ही है। ओर आश्चर्य! इसी के साथ ग्लोबल वार्मिंग में भी कमी आने लगेगी।

9) प्रार्थना: और अंतत: गांधी जो ख़ुद करते और हमें भी सुझाते वह होती-प्रार्थना। प्रत्येक दिन के अंत में, अपना सर्वोत्कृष्ट प्रयास करने के पश्चात थोड़ी देर शांत बैठिए। अंतर्मुख होइए, विनम्र बनिए और शरण जाइए। किसकी शरण? यह आप की इच्छा पर निर्भर है-ईश्वर, प्रकृति, जीवन, सत्य, काल, जो आप को रुचे उसकी शरण जाओ। कम से कम गांधी तो ऐसा ही करते। जो-जो तुमसे संभव था वह सारा प्रयास तुमने किया। अब इसके आगे यह बोझ गधे के भांति ढोने की जरूरत नहीं है। मनुष्य को अपने कर्तृत्व और अपेक्षाओं का निरर्थक व घातक बोझ अपनी पीठ पर से उतारकर

स्वतंत्र होना आना चाहिए। गांधी इसे ही शरणागति या प्रार्थना कहते हैं। विश्व के अनंत विस्तार के समक्ष अपने अहंकार और प्रयास की क्षुद्रता को पहचानें! अब उसकी मर्ज़ी चलने दें-यानी अंतत: जो हो उसे स्वीकारें!

गांधी के लौटने की प्रतीक्षा के बजाय, वे आकर जो करते उसकी शुरूआत हमें कर देनी चाहिए।

❑

मराठी से अनुवाद : प्रो. हूबनाथ पांडेय

विटामिन-सी

● डॉ. कृष्णकुमार मिश्र

मानव के उत्तम स्वास्थ्य एवं आरोग्य हेतु पोषक तथा संतुलित आहार बहुत जरूरी माना जाता है। संतुलित आहार के मुख्यत: 5 घटक होते हैं- कार्बोहाइड्रेट, प्रोटीन, लिपिड, खनिज लवण एवं विटामिन। इनमें विटामिनों की बडी अहम भूमिका होती है। दूसरे घटकों की तुलना में आहार में विटामिनों की अल्प मात्रा ही काफी होती है। ये यौगिक शरीर में चयापचय में अहम भूमिका निभाते हैं तथा रोगप्रतिरोधक क्षमता बनाये रखते हैं। विटामिन हमें फल तथा सब्ज़ियों से प्राप्त होते हैं। इसीलिए हमारे खानपान में फलों तथा सब्ज़ियों की बेहद खास भूमिका होती है। सभी विटामिनों में विटामिन-सी बेहद अहम है। यह आसानी से उपलब्ध है जो प्राय: सभी खट्टे फलों में मिलता है। आँवले में यह प्रचुरता से मौजूद होता है। विटामिन-सी को रासायनिक तौर पर एस्कॉर्बिक अम्ल कहा जाता है। यह एक उत्तम प्रतिऑक्सीकारक होता है। शरीर में चयापचय से उत्पन्न हानिकारक पदार्थों को यह निष्क्रिय करता है। आज कोरोना के वैश्विक संकट के दौर में विटामिन-सी की भूमिका और बढ़ गई है। कोविड-19 के संक्रमण से बचने के लिए खानपान में विटामिन-सी की पर्याप्त मात्रा लेना

ज़रूरी है। इससे शरीर की रोगप्रतिरोधक क्षमता बनी रहती है। कोरोना का संक्रमण हो जाने पर इलाज में विटामिन-सी महत्वपूर्ण भूमिका निभा रहा है। रोगी को प्रतिदिन 500-500 मिलीग्राम के दो टैबलेट सुबह-शाम लेने की सलाह दी जाती है। वास्तव में विटामिन-सी एक कमाल का रसायन है।

विटामिन-सी, इतिहास के आईने में

विटामिन-सी, यानी एस्कॉर्बिक एसिड का बड़ा ही रोचक इतिहास है। इसके नाम की उत्पत्ति स्कर्वी नामक बीमारी के लैटिन नाम स्कॉर्ब्यूटस से हुई है। चूँकि इस विटामिन के ज़रिएस्कर्वी का उपचार किया जाता है अतएव इसे विलोमार्थी रूप देने हेतु उपसर्ग रूप में अंग्रेजी का 'ए' अक्षर लगा दिया गया। पुराने जमाने में स्कर्वी की बीमारी लंबी समुद्री यात्राओं पर जाने वाले जहाज़ियों तथा नाविकों में देखने में आती थी। इस बीमारी का कारण मुख्यत: कोलाजेन नामक रेशेदार प्रोटीन का अपूर्ण संश्लेषण होना है। इससे शरीर के अंग-प्रत्यंग ढीले पड़ने लगते हैं क्योंकि कोलाजेन उन्हें सीमेंट की तरह बाँधने का काम करता है। विटामिन-सी की कमी से जोड़ों में मौजूद कार्टिलेज कमजोर पड़ जाते हैं। आंतरिक रक्तस्राव, माँसपेशियों में कमज़ोरी, मसूड़ों में दर्द तथा खून आना, दाँतों का गिरना, जोड़ों में सूजन तथा दर्द, घावों का देर से भरना, इत्यादि, स्कर्वी के लक्षण हैं। सन 1497 में पुर्तगाल के वास्को द गामा ने जब भारत के लिए अपनी ऐतिहासिक समुद्री यात्रा शुरू की थी उस समय स्कर्वी नामक बीमारी के इलाज में खट्टे फलों की उपयोगिता मालूम हो चुकी थी। इसलिए पुर्तगालियों ने सेंट हेलेना में फलों और तरकारियों की खेती की व्यवस्था की थी। सेंट हेलेना तब उनकी समुद्री यात्राओं का एक महत्वपूर्ण पड़ाव हुआ करता था। यह दक्षिण अटलांटिक में स्थित एक द्वीप है। यहाँ वे स्कर्वी और अन्य समुद्री बीमारियों से पीड़ित नाविकों को उतार देते थे जहाँ से उन्हें लौटने वाले जहाज़ों से वापस भेज दिया जाता था। उस समय पाल वाली नावें तथा जहाज़ इस्तेमाल में लाए जाते थे। उन दिनों समुद्री यात्राएँ बड़ी लंबी होती थीं तथा उनमें महीनों का वक्त लग जाता था। एक अनुमान के मुताबिक सन 1500ई.

से लेकर 1800ई. के मध्य कुल 300 वर्षों में स्कर्वी के कारण कम से कम बीस लाख जहाज़ियों की मौत हुई थी। ध्यान रहे, उस समय हवाई जहाज़ का आविष्कार नहीं हुआ था। सुदूर देशों की यात्रा का माध्यम प्राय: जलमार्ग ही हुआ करते थे। जोनाथन लैंब का कथन द्रष्टव्य है; ठसन 1499 में वास्को द गामा जब भारत से अपने देश लौटा तो उसके दल के 170 नाविकों में से 116 नाविक स्कर्वी के कारण अपनी जान गँवा चुके थे। इसी तरह सन 1520 में मैगलन की लंबी समुद्री यात्रा में उसके 230 नाविकों में से 208 नाविक स्कर्वी की भेंट चढ़ गए थे। सिर्फ 22 नाविक ही जीवित बच सके थे। इन तथ्यों से हम इस बात की सहज कल्पना कर सकते हैं कि पुराने ज़माने में समुद्री यात्राएँ कितनी चुनौतीपूर्ण तथा जोखिमभरी हुआ करती थीं। वैसे स्कर्वी कोई नई बीमारी नहीं है। इसका उल्लेख हिप्पोक्रेटीज़ (460 ई.पू.–380 ई.पू.) ने भी किया है। इन्हें पश्चिमी चिकित्सा विज्ञान का जनक कहा जाता है।

विटामिन-सी रसायन की खोज

विटामिन-सी की खोज का श्रेय हंगरी के जैवरसायनज्ञ अल्बर्ट सेंट जॉर्जी (Albert Szent-Györgyi) को जाता है। उन्हें विटामिन-सी के संदर्भ में साइट्रिक एसिड साइकिल तथा फ्यूमैरिक अम्ल के उत्प्रेरण के लिए वर्ष 1937 के चिकित्सा विज्ञान के नोबेल पुरस्कार से सम्मानित किया गया। विटामिन-सी की महत्ता इस बात से परिलक्षित होती है कि वर्ष 1937 में इस यौगिक की रासायनिक संरचना ज्ञात करने के लिए वॉल्टर नॉर्मन हैवर्थ को रसायन विज्ञान का नोबेल पुरस्कार प्रदान किया गया। अर्थात एक ही वर्ष विशेष में किसी रासायनिक यौगिक पर काम करने के लिए दो-दो नोबेल पुरस्कार दिए गए।

विटामिन-सी जल में घुलनशील सफेद रंग का रवादार पदार्थ होता है जो स्वाद में खट्टा होता है। इसका अणु सूत्र $C_6H_8O_6$ है और अणुभार 176.12 ग्राम प्रति मोल होता है। विटामिन-सी का द्रवणांक 1900 तथा क्वथनांक 5530 होता है। शुष्क अवस्था में यह हवा में स्थायी होता है, लेकिन द्रव अवस्था में इसका तेज़ी से

ऑक्सीकरण होता है। जल में अत्यंत घुलनशील होने के कारण यह छोटी आंत द्वारा सरलता से अवशोषित हो जाता है। यह रक्त से सीधे यकृत में पहुँचता है तथा वहाँ से शरीर के विभिन्न भागों में पहुँच जाता है। यदि इस विटामिन को ज़्यादा मात्रा में ले लिया जाए तो भी इसका कोई दुष्प्रभाव नहीं होता क्योंकि यह पेशाब के ज़रिए रिए सरलता से बाहर निकल जाता है। विटामिन-सी अल्कोहल में कम घुलनशील तथा क्लोरोफॉर्म, ईथर और बेंज़ीन में अघुलनशील है। समस्त विटामिनों में यह सर्वाधिक अस्थायी विटामिन होता है। विटामिन-सी अन्य पोषक तत्वों जैसे विटामिन-सी, तथा आयरन के साथ मिलकर शरीर की रोग प्रतिरोधक क्षमता को बढ़ता है और शरीर को स्वस्थ बनाए रखता है।

विटामिन-सी के कुछ प्रमुख स्रोत

हमें विटामिन-सी अलग से खाद्य पदार्थो से प्राप्त होता है क्योंकि मानव शरीर इसका निर्माण नहीं करता। चूँकि विटामिन-सी आसानी से ऑक्सीकृत भी हो जाता है इसलिए वायु की उपस्थिति में भंडारण करने, सब्ज़ियों को काटने तथा पकाने से यह ऑक्सीकृत हो जाता है। एक व्यक्ति को प्रतिदिन औसतन 60 से 80 मिलीग्राम विटामिन-सी की आवश्यकता होती है। गर्भवती महिलाओं तथा स्तनपान कराने वाली माताओं के लिए अतिरिक्त 10-30 मि.ग्रा. प्रतिदिन की आवश्यकता होती है। विटामिन-सी के प्रमुख स्रोत हैं खट्टे रसीले फल, जैसे आँवला, नारंगी, नींबू, संतरा, अंगूर, टमाटर, अनानास, स्ट्रॉबेरी। खरबूजा, किवी फल, आम, अमरूद, तरबूज, सेब, केला, बेर, एवं हरी पत्तेदार सब्ज़ियाँ आदि विटामिन-सी के अच्छे स्रोत हैं।

इसके अलावा पालक, ताज़ा मटर, कटहल, शलजम, पुदीना, मूली के पत्ते, मुनक्का, दूध, चुकंदर, चौलाई, बंदगोभी, हरी धनिया, हरी और लाल मिर्च, ब्रोक्कोली, फूलगोभी, मीठा और सफेद आलू, कद्दू और पालक भी विटामिन-सी के अच्छे स्रोत हैं। दूध, अंडे, मांस एवं चिकन में एस्कॉर्बिक अम्ल बहुत कम मात्रा में पाया जाता है। विभिन्न खाद्य पदार्थों में विटामिन-सी की मात्रा नीचे सारणी में दी गई है। इसके अलावा दालें भी विटामिन-

सी का स्रोत होती हैं। असल में सूखी अवस्था में दालों में विटामिन-सी नहीं होता। लेकिन दालों के भिगोने के बाद उनमें खासी मात्रा में विटामिन-सी उत्पन्न हो जाता है।

सारणी : विभिन्न खाद्यपदार्थों में विटामिन-सी की मात्रा

खाद्य पदार्थ	**विटामिन-सी की मात्रा** (मिग्रा./100 ग्रा.)
आंवला	445
अंगूर	200
बंदगोभी	100
फूलगोभी	70
पत्तागोभी	60
पालक	60
संतरा	50
नींबू	50
आलू	30
मटर	25
टमाटर	20
सलाद	15
गाजर	6
सेब	5
दूध	2.1

उत्कृष्ट प्रतिऑक्सीकारक तथा मुक्त मूलक मार्जक भी है विटामिन-सी प्रति ऑक्सीकारकों की सूची में विटामिन-सी सर्वोपरि है। पारिभाषिक रूप से प्रतिऑक्सीकारक (antioxidants) वे रासायनिक यौगिक हैं जो दूसरे पदार्थों एवं तत्वों के ऑक्सीकरण को रोकते हैं। ये अभिक्रियाशील ऑक्सीजन स्पिशीज़ से अभिक्रिया करके उनको समाप्त करते हैं। प्रतिऑक्सीकारक शरीर में ऑक्सीकरण से उत्पन्न हुए मुक्त मूलकों से अभिक्रिया करके उनको निष्क्रिय बना देते हैं। आँवला विटामिन-सी का उम्दा स्रोत

माना जाता है। आँवले में मौजूद विटामिन तुलनात्मक रूप से स्थायी होता है तथा गरम करने पर जल्दी नष्ट नहीं होता।

विटामिन-सी की विशेषताओं पर बहुत व्यापक अनुसंधान हुए हैं। इसके गुणों पर आज भी शोध चल रहा है। अनुसंधान करने पर वैज्ञानिकों ने विटामिन-सी के बारे में जो बड़ी रोचक बात पाई है, वह यह है कि यह विटामिन, दूसरे विटामिनों की प्रतिऑक्सीकारक क्षमता को कई गुना बढ़ा देता है। जैसे कि विटामिन-ई मुक्त मूलकों को अपना एक इलेक्ट्रॉन देकर उनकी क्रियाशीलता समाप्त करता है परंतु स्वयं मुक्त मूलक में परिवर्तित हो जाता है। ऐसे में यदि साथ में विटामिन-सी हो तो वह लगातार अपना इलेक्ट्रॉन देकर विटामिन-ई की क्रियाशीलता को सतत बनाए रखता है। विटामिन-सी में यह अद्भुत विशेषता भी होती है कि वह पुनर्चक्रण द्वारा अपने इलेक्ट्रॉन की क्षतिपूर्ति भी कर लेता है।

विटामिन-सी से त्वचा के स्वास्थ्य में सुधार सहित अन्य महत्वपूर्ण लाभ होते हैं। विशेषज्ञों के अनुसार विटामिन-सी की प्रतिदिन 60 मिलीग्राम मात्रा का सेवन स्वास्थ्य के लिए अच्छा है। लेकिन अनुसंधान से यह बात सामने आई है कि जो व्यक्ति धूम्रपान करते हैं, उनके रक्त में विटामिन-सी की मात्रा, धूम्रपान न करने वाले व्यक्तियों की तुलना में 25 प्रतिशत कम होती है। इसलिए जो लोग धूम्रपान करते हैं, अल्कोहल का सेवन करते हैं तथा कैफीन की अधिक मात्रा लेते हैं, उन्हें इसकी अधिक मात्रा की आवश्यकता होती है। इसके अतिरिक्त मानसिक तनाव, बुखार, संक्रमण, गर्भावस्था और वृद्धावस्था में विटामिन-सी की आवश्यकता बढ़ जाती है।

विटामिन-सी हमारी मनोदशा का निर्धारक है

विटामिन-सी हमें खुशमिज़ाज रखता है। यह हमारे चित्त यानी मन:स्थिति का निर्धारक है। यह मानव मस्तिष्क में सेरोटोनिन नामक रसायन के बनने में मददगार होता है। वैज्ञानिकों के अनुसार सेरोटोनिन हमारे मूड को तै करता है। रक्त में सेरोटोनिन का अच्छा स्तर व्यक्ति में प्रसन्नता के एहसास को बढ़ाता है। सेरोटोनिन निद्रा और भूख को भी नियंत्रित करता है। चिंता तथा अवसादग्रस्त

व्यक्तियों के रक्त में सेरोटिनिन का स्तर कम पाया गया है। इसलिए प्रतिअवसादक (एंटीडिप्रेसैन्ट) औषधि के रूप में ऐसे रसायन दिए जाते हैं जो सेरोटोनिन के स्तर को बढ़ाते हैं। सेरोटोनिन का संज्ञानात्मक महत्व भी है। यह स्मृति तथा अधिगम को भी प्रभावित करता है। इसलिए छात्रों में बेहतर सेरोटोनिन से उनके पढाई-लिखाई में बेहतरी की संभावना रहती है। विटामिन-सी हमारी आँखों के लिए फायदेमंद होता है। यह सबलबाम (ग्लॉकोमा) जैसी खतरनाक बीमारी से बचाता है जिससे व्यक्ति अंधा हो जाता है।

विटामिन-सी की प्रमुख भूमिकाएँ

शरीर की आधारभूत रासायनिक अभिक्रियाओं तथा यौगिकों के निर्माण में विटामिन-सी की भूमिका होती है। यह कोशिकाओं के उपापचय अभिक्रिया में सहायक होता है। शरीर में विटामिन-सी कई तरह की रासायनिक क्रियाओं में सहायक होता है जैसे कि तंत्रिकाओं तक संदेश पहुँचाना या कोशिकाओं तक ऊर्जा प्रवाहित करना आदि। इससे शरीर के विभिन्न अंग को आकार बनाने में मदद मिलता है। इसके अलावा, हड्डियों को जोड़ने वाला कोलाजेन नामक पदार्थ, रक्त वाहिकाएँ, लिगामेंट्स, कार्टिलेज के निर्माण में भी विटामिन-सी की आवश्यकता होती है। यह शरीर में कोलेस्टेरॉल को भी नियंत्रित करता है। विटामिन-सी की उपस्थिति से शरीर में लौह तत्वों की अवशोषण क्षमता बढ़ जाती है। यह फेरिक आयन को फेरस आयन में रूपांतरित करता है जिससे आँत में लौह तत्व का अवशोषण सरलता से होता है। यह शरीर की रक्त वाहिकाओं को मजबूत बनाने में सहायक होता है। विटामिन-सी की कमी से मसूढ़ों से रक्तस्राव तथा दाँत-दर्द की शिकायत हो सकती है, मसूढ़े ढीले हो सकते हैं तथा इससे दाँत कम उम्र में गिर सकते हैं। इसलिए व्यक्ति को खानपान में विटामिन-सी नियमित तौर पर लेना चाहिए। जिन लोगों को उच्च रक्तचाप की शिकायत है उन्हें अपने आहार में रोज़ विटामिन-सी लेना ही चाहिए। यह नसों और मासपेशियों को फैला देता है और उच्च रक्तचाप के संभाव्य नुकसान से रक्षा करता है। जीव तंत्र में रासायनिक प्रक्रियाओं से उत्पन्न होने वाले सुपरआक्साइड या

मूलक शरीर में प्रोटीन व डीएनए को क्षति पहुँचाते हैं। इससे प्राणियों की कोशिकाओं में अनेक ऐसे परिवर्तन होते हैं जो कालातंर में समयपूर्व जरण तथा कैंसर का कारण बन सकते हैं। विटामिन-सी के समुचित तथा नियमित सेवन से कैंसर तथा जरण (ageing) प्रक्रिया को काफी हद तक नियंत्रित किया जा सकता है। यह शरीर में प्रतिरक्षी (एंटीबॉडी) बनाता है और रोगप्रतिरोधक क्षमता को मजबूत करता है।

विटामिन-सी की कमी से शरीर में संदूषण बढ़ जाता है एवं हानिकारक जीवाणुओं की संख्या बढ़ सकती है। इससे मोतियाबिंद, अपच, मंदाग्नि, घाव में मवाद बढ़ना, हड्डियाँ कमज़ोर होना, चिड़चिड़ा स्वभाव, खून का बहना, स्कर्वी, पक्षाघात, रक्त विकार, संधि शोथ तथा दर्द, श्वसन संबंधी कष्ट, चर्म रोग, रक्ताल्पता, जैसी बीमारियाँ हो सकती हैं। इनके अलावा अल्सर, चेहरे पर दाग़ पड़ जाना, फेफड़े कमज़ोर पड़ जाना, ज़ुकाम होना, आँख, कान व नाक के रोग, एलर्जी होना इत्यादि की संभावना रहती है। शरीर में विटामिन-सी की कमी होने से कभी चोट लगने पर अत्यधिक रक्तस्राव भी हो सकता है क्योंकि रक्त का थक्का बनने (सकंदन) की प्रक्रिया में भी यह अहम भूमिका निभाता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि विटामिन-सी एक अद्भुत यौगिक है तथा हमारे स्वास्थ्य और आरोग्य में उसकी अनेकानेक रूपों में बहुप्रकारेण भूमिका है। इसलिए स्वास्थ्य तथा आरोग्य के लिए हमारे खानपान में विटामिन-सी की भरपूर मात्रा का होना बेहद ज़रूरी है।

❑

महामारी! भारतीय स्त्रियों के हितों पर प्रभाव

● डॉ. सुचिता कृष्णप्रसाद

कोविड महामारी ने पूरे विश्व में मानवजीवन के हर एक पक्ष को झिंझोड़कर रख दिया है। इस वाइरस ने लगातार हमारे जीवन के प्रत्येक हिस्से में होने वाले संभावित विकास का तो जैसे खात्मा ही कर दिया है। इस वाइरस के बारे में एकत्र की गई प्रत्येक जानकारी जैसे कि किस-किस को यह इन्फेक्शन हो सकता है, इसके कौन-कौन से लक्षण हैं, सब कुछ एक रहस्य ही होता जा रहा है। जब से यह वैश्विक महामारी प्रकट हुई है, हमारे खाने-पीने, काम करने, पढ़ाई-लिखाई, मनोरंजन सब कुछ का तरीका बदलता जा रहा है। एक अनिश्चितता सी चारों ओर लोगों के मन में है। हमने इसे अब स्वीकार भी कर लिया है। यह रिसर्च लैंगिक विषयों पर इस महामारी द्वारा प्रकट हुए प्रभावों का एक अध्ययन है।

लैंगिकता ही क्यों ?

यह जगविदित है कि कोविड 19 का पहला संक्रमण सत्रह नवंबर को चीन के हूबेई प्रांत में हुआ था। बहुत जल्द ही इसका संक्रमण सभी महाद्वीपों में हो गया। इसने यूरोप से लेकर अमेरिका

तक लाखों लोगों को अपना शिकार बनाया। यह बात पूरी तरह मानी हुई थी कि यह वाइरस किसी को भी नहीं छोड़ेगा। यह जल्द ही सभी विकसित देशों में साल 2020 की पहली तिमाही में ही बड़े पैमाने पर फैल गया और हज़ारों जानें ले लीं। अब सवाल यह उठता है कि जब यह वाइरस ऊँच-नीच, जाति-धर्म, रंग-भेद नहीं जानता तो इस संदर्भ में लैंगिक विषयों पर रिसर्च का क्या अर्थ है? प्रोफ़ेसर अमर्त्य सेन ने पश्चिम बंगाल पर किए अपने चर्चित अध्ययन में चिह्नित किया था कि कैसे अकाल और उससे होने वाले अनाज की कमी समाज के अलग-अलग हिस्सों और उससे होने वाली मौतों पर अपना अलग ही असर डालता है। उस अकाल में ऊँची जाति के लोगों की मौत कम हुई थी। इसलिए यह एक रुचिकर विषय है कि कैसे यह महामारी, जो सैद्धान्तिक रूप से तो तटस्थता दिखा रही है, यह उन समाजों पर क्या असर डालेगी जहाँ पूर्वाग्रह राज करता है। दूसरी बात यह है कि इस दौरान जो "घर पर रहें और सुरक्षित रहें" का नारा लगाया गया है वह गृहणियों पर क्या असर डालेगा, जिन्हें हर घड़ी अपने परिवार की देखभाल करनी होती है। इससे यह बात तो निश्चित है कि उनको पहले जो थोड़ा आराम का समय मिलता था वह भी नहीं मिलेगा, और इससे उनके स्वास्थ्य अथवा सुकून पर कुछ तो असर पड़ेगा। इससे पहले कि हम इस क्षेत्र में ज़्यादा ध्यान दें, यह आवश्यक है कि भारत में फ़िलहाल स्त्रियों की स्थिति पर एक नज़र डालें।

औरतों की भारत में स्थिति

1990 से भारत में ह्यूमन डेवलपमेंट इंडेक्स (HDI) लगातार बढ़ रहा है; 2018 में जन्म के बाद जीवित रहने का स्तर 57.9 साल से बढ़कर 69.4 साल हो गया है। इसी समय-सीमा में औसत स्कूल की पढाई का स्तर भी सुधरा है। लेकिन आर्थिक विकास-दर के परिप्रेक्ष में HDI उतना कारगर नहीं रहा है।

यहाँ प्रति व्यक्ति GNI (सकल राष्ट्रीय आय) और ह्यूमन डेवलपमेंट इंडेक्स (HDI) की स्थिति चिंताजनक है और यदि ऐसे

ही रहा तो आर्थिक विकास होने के बाद भी जनता के विकास का स्तर धीमा ही रहेगा। अगर हम इन चीज़ों पर ज़्यादा ध्यान दें तो यह पाएँगे कि लैंगिक समानता इंडेक्स जो कि प्रसूति के बाद स्त्रियों के जीवित रहने के दर, टीन-एज प्रजनन शक्ति, संसद में स्त्रियों की सहभागिता, स्त्रियों में शिक्षा का औसत और रोज़गार में स्त्रियों की भागीदारी पर निर्भर करता है। इन सब अवस्थाओं में भारत की स्थिति बांग्लादेश से भी ख़राब है, क्योंकि भारत 2006 में 108 वीं पायदान पर था जो कि 2017 में 112 एवं 2020 में यह खिसक कर 144 देशों में 112 वें नंबर पर आ गया है। औरतों की स्थिति देखें तो यह पता चलता है कि भारत में महिलाओं की स्थिति शोचनीय है। खासकर स्वास्थ्य, मृत्यु दर एवं आर्थिक स्वायत्तता इन सब चीज़ों में तो BRICS देशों में भी भारत कहीं नहीं ठहरता। महिलाओं की जीवन दर, उनका स्वास्थ्य, आर्थिक एवं राजनैतिक विषयों पर स्वायत्तता में तो बांग्लादेश भी हम से आगे है।

औरतों में रोज़गार एवं आय की स्थिति

बाज़ार आधारित अर्थव्यवस्था आर्थिक योगदान को दो भागों में बाँटती है: (i) श्रमिकों की भागीदारी (ii) उनको मिलने वाला आर्थिक सहयोग। वास्तव में औरतें 'देखभाल की अर्थव्यवस्था' चलाती हैं, जहाँ पर उनकी कोई आय नहीं होती। इन सभी निरीक्षणों से लैंगिकता के आधार पर कोविड का अध्ययन किया जा सकता है।

श्रम में औरतों का योगदान:

NSSO के डाटा के अनुसार फ़ीमेल लेबर फोर्स पाटीर्सिपेशन रेट (FLPR) 23.3% है, जो कि विश्व में नीचे से दसवाँ है। इससे नीचे के देश हैं-मिस्र, मोरक्को, सोमालिया, ईरान, अल्जीरिया, जॉर्डन, इराक़, सीरिया और यमन। ये देश लंबे समय से युद्ध झेल रहे हैं। इन सब स्थितियों को देखकर यह तो अवश्य सोचना चाहिए

कि भारत में कम से कम FLPR की स्थिति इनसे तो काफी ऊपर होनी चाहिए। FLPR में यह गिरावट पिछले दशक में भी जारी रही, यद्यपि गाँव में स्थिति ज़्यादा ख़राब है (50% से 25%) शहरों से (25% से 20%) ज़्यादा ख़राब है।

यदि हम उम्र के आधार पर देखें तो 35 से 39 साल की औरतों में यह बेरोज़गारी सबसे ज़्यादा है। नौकरी करने की मुख्य उम्र जो कि 30 से 50 साल है, प्रत्येक तीन में से दो औरतें बेरोज़गार हैं और गृहणियों के रूप में जीवन यापन कर रही हैं।

1. रोज़गार के प्रकार, आय, और औरतों का भविष्य:

अनौपचारिक अर्थव्यवस्था में औरतों का भारत में योगदान 32% है। जिसमें 20% कृषि और अन्य ऐसे ही रोज़गार शामिल हैं। 118 मिलियन औरतें असंगठित क्षेत्र में कार्य करती हैं जो कि पूरे रोज़गार का 97% है। इनमें कचरा बीनने वाली, नौकरानी, ख़रीद फ़रोख्त करने वाली, ब्यूटीशियन, और मज़दूर औरतें शामिल हैं। ILO के अनुसार भारतीय औरतें (44.4%) अन्य विकासशील देशों (35-36%) की अपेक्षा ज़्यादा काम करती हैं किन्तु पारिश्रमिक पुरुषों से कम पाती हैं। औरतों और पुरुषों के बीच औसत आय में बहुत अंतर है। यदि हम एक अच्छी नौकरी भी देखें तो औरतों के काम करने का टाइम, उनकी योग्यता यदि पुरुषों से ज़्यादा भी है तब भी उनकी तनख्वाह पुरुषों से कम होती है। गाँव में एक पुरुष की तनख्वाह एक औरत के मुक़ाबले 1.4 से 1.7 गुना ज़्यादा होती है, और शहरों में 1.2 से लेकर 1.3 गुना ज़्यादा। ऐसा निम्नलिखित कारणों की वजह से है:

1. 1994 और 2010 के बीच औरतों में रोज़गार ज़्यादातर ऐसे सेक्टर्स में हुआ है जहाँ उत्पाद क्षमता कम होती है और पारिश्रमिक कम होता है जैसे-कृषि, हस्त शिल्प इत्यादि।

2. लिंक्डइन के अनुसार भारत में तेजी से बढ़ने वाले व्यवसाय, जैसे पाइथन डेवेलपलर, जावा स्पेशलिस्ट, मशीन लर्निंग, डिजिटल मार्केटिंग इत्यादि में औरतों की भागीदारी मात्र 19% है।

3. औरतों में प्राइमरी और सेकंडरी शिक्षा दर में तो वृद्धि हुई है किन्तु उच्च शिक्षा और उच्चतर शिक्षा में पुरुष अभी भी अग्रणी हैं। भारत में तकनीकी उद्योगों में वृद्धि होने की वजह से रोज़गार में भी बढ़ोत्तरी हुई है, किन्तु दुर्भाग्यवश स्त्रियाँ अभी भी उस स्तर तक नहीं पहुँच पाई हैं। यह अत्यंत तकलीफ़देह है कि औरतों का क्लेरिकल रोज़गार ऑटोमेटिक मशीनों के आने के कारण खतरे में है और कृषि में मशीनें आने की वजह से भी ये औरतें रोज़गार से वंचित हो रही हैं।

औरतें कुल 352 घंटे गृहकार्य में लगती हैं जबकि पुरुष 52 मिनट; दोनों में 577% का अंतर है। उस पर यदि घर की आय बढ़ गई तो औरतों की नौकरी छुड़वा दी जाती है, और इसे सम्मान की बात समझा जाता है।

कोविड का औरतों पर प्रभाव:

यह वैश्विक आपदा तो ख़त्म होने का नाम नहीं ले रही है। इसके पहले कि यह समाप्त हो इसके पुनरुत्पन्न होने के अनुमान लगाए जा रहे हैं। कुछ शहर जहाँ लॉक-डाउन हटाना प्रारंभ हुआ, वहाँ फिर से लगाना पड़ा, क्योंकि संक्रमण और इससे होने वाली मौत दोनों का आँकड़ा बढ़ता जा रहा है। यह एक सही मौका है जब भारतीय समाज में स्त्रियों की सही स्थिति का जायज़ा लिया जा सकता है। इस महामारी के दौरान अध्ययन का विषय होगा:

(i) महिलाओं की उनके घर में स्थिति का अनुमान लगाना

(ii) इसका उनके रोज़गार और कम होते FLPR क्रमांक पर प्रभाव।

लॉक-डाउन के समानांतर दूसरी महामारी:

लॉक-डाउन को महामारी के फैलने से मची घबराहट का एक समाधान समझा गया है। 24 मार्च 2020 से भारत में लॉक-डाउन की एक शृंखला शुरू की गई। वैसे तो लॉक-डाउन ज़्यादातर लोगों के विवेक पर निर्भर था फिर भी 'घर पर रहें सुरक्षित रहें' के नारे

को प्रत्येक ने ठान लिया था। अप्रैल की शुरुआत तक बेरोज़गारी 27% हो गई थी। जब सभी घरों में बंद हो गए तो महिलाएँ, जो पहले से ही गृहकार्य में व्यस्त रहती थीं, उनपर बुजुर्गों और बच्चों की भी (जिनको संक्रमण का ख़तरा ज़्यादा था) ज़िम्मेदारी आन पड़ी। बच्चों के स्कूल और कॉलेज बंद हो जाने की वजह से उनकी ज़िम्मेदारी और भी बढ़ गई। औरतों को सिर्फ़ बच्चों के स्वास्थ्य का केयर-टेकर ही नहीं बल्कि उनका टाइम पास भी बनना पड़ा। जिन औरतों की नौकरी चली गई उनका परिवार में सम्मान कम हुआ। जो नौकरीशुदा हैं, उनके काम दो गुने हो गए- घर का काम और वर्क फ्राम होम। जिससे आराम करना मुश्किल हो गया। घर और ऑफ़िस के काम में सामंजस्य बनाने की कोशिश में वे शारीरिक और मानसिक थकान से जूझ रही हैं।

विश्व की काफी औरतों के लिए घरेलू हिंसा एक बड़ी समस्या रही है। यह मानी हुई बात है कि जब भी औरतों में आर्थिक स्वायत्तता नहीं रही है, वे प्रताड़ित हुई हैं। उन्हें नियंत्रित किया गया है। उनके साथ गाली-गलौज, मार-पीट बढ़ी है। यहाँ तक कि सेक्सुअली भी वे प्रताड़ित की गई हैं। कोविड-19 के दौरान यह उत्पीड़न कहीं ज़्यादा बढ़ा है। जब हर कोई जिंदगी बचाने के लिए संघर्षरत है ऐसे में आर्थिक तंगी, दोस्तों के बीच न रह पाना, और मुख्यत: पुरुषों को तंबाकू और शराब न मिल पाना जो समाज में एक आम बात समझी जाती है, औरतों की समस्या बन जाते हैं। लॉक-डाउन ने एक इंसान को परिवार और दोस्तों से दूर कर दिया है, उनको आर्थिक रूप से तंग कर दिया है, नौकरी छीन ली है, पढाई और स्वास्थ्य संबंधी तमाम समस्याएँ खड़ी कर दी है। इससे व्यक्तित्व पर गहरा असर पड़ता है और शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्य में भी गिरावट आती है।

ऐसा विकसित देशों में भी हुआ है। पारिवारिक प्रताड़ना के मामलों में फ्रांस में 30%, सिंगापूर में 100%, अर्जेंटीना में 25% और साइप्रस में 33% की वृद्धि हुई है। चीन के हूबेइ प्रांत में फरवरी 2020 के क्वारंटाइन पीरियड में घरेलू हिंसा के मामलों में तीन

गुना वृद्धि हुई। पुणे में लॉक-डाउन के पहले पाँच हफ्तों में घरेलू हिंसा एवं प्रताड़ना के मामले में पुलिस केस बारह गुना बढ़ा। ये आँकड़े घरेलू हिंसा झेल रही महिलाओं के लिए एक समानांतर महामारी जैसे ही तो है।

औरतों के रोजगार पर कोविड का प्रभाव

कोविड गिरते हुए FLPR को सुधार देगा, ऐसी कोई संभावना फ़िलहाल नही दिखती। अभी सिर्फ़ एक ही संभावना दिखती है कि ज़्यादा से ज़्यादा औरतें जॉब मार्केट से बाहर निकाल दी जाएँगी। कारण बताया जाएगा कि उनके परिवार को उनकी ज़्यादा जरूरत है। केवल स्वास्थ्यकर्मियों, मतलब ASHA, को छोड़ा जाएगा, क्योंकि वे कोरोना के मामले देख रही हैं और उनकी भारतीय समाज को ज़रूरत है। इन वालंटियर्स ने कोविड के बारे में जानकारी फैलाकर एक असाधारण कार्य किया है। इन्होने पर्याप्त सुरक्षात्मक उपकरण न होने पर भी धारावी तथा मुंबई के अन्य क्षेत्रों में उल्लेखनीय कार्य किया है।

अंत में प्रवासी-मज़दूर औरतों के साहस की बात करते हैं, जिन्होने औक़ात से ज़्यादा बोझ उठाकर मीलों लंबी यात्राएँ कीं। इन औरतों में कुछ एक की तो प्रसूति भी रास्ते में ही हो गई, इसके बावजूद वे चलती रहीं। ये औरतें, जो घरेलू नौकरानियों की तरह काम करके थोड़ा बहुत कमा लेती थीं या फिर शहरों में कोई छोटा-मोटा व्यवसाय करती थीं, अब गाँव की पारंपरिक श्रेणीबद्ध ज़िंदगी में टूटने और बिखरने को मजबूर हैं। इससे भी ज्यादा यह जानना ज़रूरी है कि बच्चों को साथ लेकर सुदूर यात्राएँ करके वे कमज़ोर हो गई हैं और उनके स्वास्थ्य पर बेहद बुरा असर पड़ा है। यदि उनको पौष्टिक भोजन नहीं मिला तो वे जल्दी अपना काम आरंभ करने योग्य नहीं हो पाएँगी।

आख़िरी शब्द: अमर्त्य सेन की याद में

आपदाएँ मरने-मारने में शायद भेदभाव नही करतीं। लेकिन

सामाजिक भेदभाव ज़रूर तै करता है कि समाज का कौन सा धड़ा कितना बोझ सहे? ऐसी ही कुछ सच्चाई थी बंगाल के अकाल की, जिसने ग़रीबों को खाने में कोई कोर कसर नहीं छोड़ी। उसी तरह कोविड ने पूरे विश्व में जानें ली हैं। लेकिन ग़रीब, जिन्होंने अपनी नौकरियाँ खो दी या फिर वे जिनके पास अपने कोविड संक्रमित परिजन का इलाज कराने को पैसे नहीं है, कहाँ जाएँ? इनमें से कई औरतें हैं, जिनको किसी भी तरह ख़ुद को सँभालकर, सँजोकर आने वाली पीढी के लिए खड़ा होना होगा, फिर से।

❑

अंग्रेज़ी से अनुवाद: श्रीमती अनुराधा सिंह

anuradhasingh277@gmail.com

करोना का आयुर्वेदिक पक्ष

● श्री. श्रेयांश दोशी

आज पूरी दुनिया कोविड के उपद्रव से त्रस्त है। लॉकडाउन की वजह से अर्थव्यवस्था भी संकट में है। सोशल डिस्टेंसिंग और मास्क का बोलबाला है। घरों से बाहर निकलें तो लगता है कि ज़िंदगी थम सी गई है। इस वाइरस की उत्पति तो चीन में हुई मगर देखते-देखते ही अमेरिका, फ्रांस, इटली और ब्रिटेन जैसे देशों को इसने ग्रस लिया। मार्च में इसका हिंदुस्तान में प्रवेश हुआ और इतनी तेज़ रफ्तार से बढ़ा कि अब तक 28 लाख लोग कोविड पाजिटिव हो चुके हैं और जब तक यह अंक आपके हाथों आए तब तक 30-35 लाख लोगों तक इसका संक्रमण पहुँच चुका होगा।

पहले हम यह जान लेते हैं कि आख़िर यह कोविड 19 है क्या? आयुर्वेद की दृष्टि से इस रोग के उद्भव का कारण क्या है? क्या इस वैश्विक महामारी में आयुर्वेद कुछ राहत दे सकता है? भारत सरकार के आयुष मंत्रालय ने भी आयुर्वेद के अनुसार मार्गदर्शन दिया है, वह कितना सहायक हो सकता है?

एलोपैथी ने इसे नया वायरस घोषित किया है मगर 2002 में आए सार्स के नए अवतार के रूप में इसकी पहचान की गई। सार्स

भी कफजन्य और श्वसन-तंत्र से संबंधित था। यह बीमारी भी इसी प्रकार की लेकिन बहुत ज़्यादा गंभीर और तेज़ गति से फैलने वाली महामारी है। इसका उद्भव चीन के वुहान शहर में हुआ। पहले कहा गया कि चमगादड़ से वायरस फैला है। फिर वायरस जैविक-शस्त्र का हिस्सा है या नहीं, इस बारे में बहस छिड़ी किंतु अभी तक इसका सही निदान नहीं हो पाया।

बरसों पुराना आयुर्वेद कोरोना या इस तरह की महामारी के बारे में क्या कहता है, यह जानना दिलचस्प और इस भय के माहौल में मार्गदर्शक हो सकता है।

आयुर्वेद परंपरा के दो धुरंधर महर्षि चरक और सुश्रुत ने अपने-अपने ग्रंथों में महामारी के बारे में लिखा है। चरण संहिता के तीसरे अध्याय विमानस्थान में महर्षि, महामारी को 'जनपदोध्वंस' कहते हैं। जनपद मतलब गाँव, नगर, मनुष्यों के रहने योग्य स्थान में जब रोग फैलता है, तो पूरी बस्ती उजाड़ देता है। काफी लोगों की मृत्यु एवं काफी लोगों को रोगग्रस्त कर रोग की चरम अवस्था में मानो पूरा देश उजड़ गया सा लगता है। अप्रैल में इटली में जो हुआ वह जनपदोध्वंस का ही उदाहरण है। भारत में भी कोविड और लॉकडाउन के सामूहिक रूप से चलने से जनपदध्वसं का अनुभव हुआ।

चरक कहते हैं कि इस तरह की महामारी का कारण जल, वायु, और देशकाल में आई विकृतियाँ हैं। वायु और जल बिगड़ने से देश और काल भी बिगड़ते है। गुजरात के एक प्रसिद्ध जैवकृषि के समर्थक ने 2016 में आगाह किया था कि इसी तरह बायोटेक्नोलॉजी आदि का उपयोग हम चालू रखेंगे, तो 2020 में खतरनाक वायरस आएगा और पूरा विश्व तबाह हो जाएगा। हमने रासायनिक खाद, कीटनाशक रसायन तथा बायोटेक्नोलॉजी के अति उपयोग से समग्र विश्व के देशकाल, वायु और जल को दूषित किया है, इसी से इस तरह के रोगों का प्रसार हुआ है।

चरक का कहना है कि कोरोना सरीखी महामारी देश-विदेश में घूमती है। ये ज्यादातर आगंतुक होती हैं। कोरोना के लक्षण की पड़ताल करते हुए चिकित्सकों ने कहा है कि यह कफ-वातजन्य

व्याधि है। इसमें तीव्र ज्वर, श्वासोच्छ?वास में बाधा, दस्त, स्वाद और गंध के अभाव आदि लक्षण दिखाई देते हैं। शीत-आहार विहार के प्रति अरुचि भी एक अन्य लक्षण दिखाई देता है।

सुश्रुत ने रोग के प्रसार के कारण की बड़ी सटीक मीमांसा की है। रोगों के संपर्क में आने से, स्पर्श करने से, साथ में भोजन करने से, रोगी के वस्त्र धारण करने से, रोगी द्वारा पहने हुए फूल या चंदन धारण करने से रोग फैलता है। रोगी के समीप रहते हुए श्वास के आदानप्रदान से भी आधुनिक चिकित्सा पद्धति की सूक्ष्मता से महामारी के फैलने के कारणों की चर्चा की गई है। इसलिए विश्व भर में कोरोना महामारी फैलने के समय सोशल डिस्टेंस की सवार्धिक महत्व रहा।

विश्व में या देश में महामारी बारबार फैलती रही है किंतु संपूर्ण विश्व में एक साथ महामारी फैलने की यह शायद पहली घटना है। विश्व में इसके पहले प्लेग फैला था, जिसका बारबार आगमन हुआ। हैजा भी ऐसी ही गंभीर महामारी थी। स्पेनिश फ्लू जो आज से 101 साल पहले कोरोना से भी अधिक हानि पहुँचाने वाली व्याधि थी। इस तरह विश्व में महामारी विभिन्न देशों में बराबर आती रहती है मगर कोविड 19 में यातायात की प्रधानता, हवाई यात्रा में वृद्धि आदि के कारण समग्र विश्व में एक साथ बड़ी तेज़ी से इसका प्रसार हुआ।

आरंभ में एलोपैथी के सामने यह बीमारी एक चुनौती बनकर उभरी। मलेरिया तथा एचआईवी की औषधियों का उपयोग इसकी चिकित्सा में किया जाने लगा। बाद में रीम्डीसवेर जैसे संसर्गजन्य रोगों की औषधियों का प्रभाव बढ़ा। लोगों के मन में विचार आया कि दुविधा की इस घड़ी में आयुर्वेद से कोई राह निकल सकती है क्या?

इस संदर्भ में आयुर्वेद की दृढ. मान्यता है कि कफ-वायुजन्य व्याधि होने के कारण उष्ण चिकित्सा से मदद हो सकती है। कोविड19 के बारे में आयुवेर्दिक पद्धति से चिकित्सा करनेवाले दक्षिण के सुप्रसिद्ध वैद्य लक्ष्मण शर्मा महादेवन कहते हैं कि ज्वर को नष्ट करनेवाली और कफ एवं वायु का शमन करनेवाली

औषधि का उपयोग इसमें करना चाहिए। श्वास और कफ में प्रयुक्त होने वाली औषधि कोविड में हितकर है क्योंकि हम सब जानते हैं कि कोविड श्वसनतंत्र को बुरी तरह से प्रभावित करता है। इसीलिए वेंटिलेटर या ऑक्सिजन की ज़रूरत पड़ती है।

एलोपैथ एवं आयुर्वेद का समन्वय करनेवाले एवं आधुनिक युग में आयुर्वेद में बड़े पैमाने पर संशोधन करनेवाले राष्ट्रपति सम्मान से सम्मानित वैद्य महादेवन कोविड के मरीज़ों को लक्षण के अनुसार पाँच वर्गों में विभाजित करते हैं-

1. जिनका विदेश यात्रा का इतिहास हो, लक्षण नदारद हो, मामूली सा बुख़ार हो, इसे प्राथमिक अवस्था कहेंगे। एलोपैथी में इस Asymptomatic कहते हैं।
2. जिनको कफ और वात से पैदा हुआ तेज़ बुख़ार हो। (100 से 103 डिग्री तक)
3. अतितीव्र बुखार (103से 105 डिग्री तक)
4. साँस लेने में तकलीफ़। बुख़ार के कारण धातु तप्त हो जाने से श्वास में अवरोध हो जाता है।
5. श्वास अतितीव्र हो जाय और मरीज़ होशोहवास खो बैठे। जिसे आयुर्वेद में 'सन्निपात ज्वर' कहते हैं।

इन पाँच अवस्थाओं के अनुसार मरीज़ की चिकित्सा की जाती है। वैद्य महादेवन तथा उनके मार्गदर्शन में कुछ कोविड मरीज़ों की सफल चिकित्सा इसी पद्धति से संपन्न हुई।

प्रथम अवस्था में-सोंठ, नागरमोथा, पर्पट (चित्तपापडा), खस, चंदन, नेत्रबला मिश्रित उबाला हुआ पानी पूरे दिन पिएँ। हल्का बिना तेल मसाले का भोजन लेना चाहिए। तुलसी, अजवाईन का पत्ता तथा हल्दी डाल कर भाप लें। तुलसी, काली मिर्च और गुड़ या शक्कर उबालकर पिएँ और मुलैठी-त्रिफला या हल्दी डालकर गुनगुने गरम पानी से कुल्ला करें।

दूसरी अवस्था के रोगी-पथ्याकस्तुम्बरादि कषाय का सेवन करें। इस अवस्था में चिकित्सक का मार्गदर्शन अवश्य लें। प्रथम अवस्था में बताए गए उपायों का भी पालन करें।

तीसरी अवस्था में चिकित्सक को कौन से दोष की प्रधानता

है, यह देखते हुए चिकित्सा करनी चाहिए। ज्वर प्रधान हो तो अमृतारिष्ट का प्रयोग करें। श्वास प्रधान हो तो कनकासव और कफ प्रधान हो तो वासारिष्ट का उपयोग करें।

चौथी और पाँचवी अवस्था में रुग्णालय में चिकित्सक की निगरानी में चिकित्सा कराना आवश्यक है।

इस तरह से आयुवेर्दिक औषधियों के माध्यम से चिकित्सा संभव है। डॉ. महादेवन ने कैंसर, किडनी एवं लीवर के मरीज़ों के भी कोविड का बेहद प्रभावशाली इलाज किया और बेहतर परिणाम प्राप्त किया है।

कोविड में लॉकडाउन के कारण लोगों को घर पर ज़्यादा रहना पड़ रहा है। इस दौरान लोग तरह-तरह के तले हुए नमकीन एवं फास्टफूड का सेवन करते हैं। वास्तव में रोग प्रतिकारक शक्ति बढाने के लिए पौष्टिक एवं संतुलित आहार लेना चाहिए। दो से तीनभभीगे बादामों के सिवा कोई और ड्राइफ़्रूट लेने से बचें। डायबीटीज के मरीज़ फलों के रस तथा चावल का सेवन न करें। जिनकी शूगर 200 से कम है वे पपीता, एक केला, अमरूद या पेर ले सकते हैं। महामारी काल में जहाँ तक हो शाकाहारी भोजन ही करें। रात्रि के प्रथम प्रहर तक भोजन कर लेना उचित है। आँवले और सोंठ की चटनी बना कर ले सकते हैं। मूँग का प्रयोग बढ़ाएँ तथा उड़द, तिल, मछली के प्रयोग से बचें।

आयुष मंत्रालय द्वारा कोरोना वायरस के प्रादुर्भाव के समय सुझाया गया खानपान भी आयुर्वेद आधारित ही था। हल्दीवाला दूध, च्यवनप्राश एवं तुलसी-सोंठ का काढा आयुर्वेद के अनुभवजन्य सिद्धांत पर आधारित है। किंतु ग्रीष्मकाल में इनका उपयोग मरीज़ की प्रकृति को समझ कर करना ज़रूरी था। पित्त प्रकृति वाले को काढा वर्जित है अत: अल्प मात्रा में लेना ही लाभदायक होगा। पाचनशक्ति मंद हो तो च्यवनप्राश न लें और गाय या बकरी का दूध आधा पानी मिलाकर लेना उचित होगा। औषधि कोई भी हो, उचित मात्रा एवं उचित मार्गदर्शन में लिया जाय तो ज्यादा लाभदायक है अन्यथा विपरीत प्रभाव की संभावना भी रहती है। आरंभिक अवस्था में सोंठ का प्रयोग लाभदायक साबित हुआ। गुजरात के

बहुत से वैद्यों ने सोंठ के नस्य प्रयोग से कोरोना से मुक्ति दिलवाई। विश्वभेषज (दुनिया की हर बीमारी का इलाज) नाम से प्रतिष्ठित सोंठ का कोरोना काल में काफी प्रभाव रहा।

आयुवेर्दिक औषधियों के साथ योग भी श्वसन तंत्र संबंधी विकारों में बहुत प्रभावी होता है। अनुलोम-विलोम, प्राणायाम, कपालभाति, ऊँकार-नाद आदि सरल यौगिक क्रियाओं से आरंभिक मरीज़ों को काफी राहत मिली और रोगमुक्ति की ओर बढ़ने में महत्त्वपूर्ण योगदान मिला। अन्य देशों की तुलना में कोरोना का ज़्यादा प्रसार होने पर भी मृत्युदर की कमी में आयुर्वेद प्रणित भोजनशैली एवं योग का जीवन शैली में विनियोग भी महत्त्वपूर्ण रहा। हल्दीवाला दूध, गरम पानी और योग का प्रभाव तो विदेश के लोगों ने भी अपने जीवन में अनुभव किया है।

प्राकृतिक चिकित्सा के क्षेत्र में दीर्घ अनुभव रखनेवाले डॉ. विश्वरूप रॉयचौधरी ने भोजन प्रणाली को बदलकर केवल तरल आहार (Liquid diet) के माध्यम से हजारों कोविड संक्रमितों को कोरोना से मुक्ति दिलाई। ज्वर की प्रबलता के समय लंघन करना और तरल आहार आयुर्वेद के अनुकूल है। तरल आहार में नारियल-पानी का समावेश तो उचित है किंतु आयुर्वेद की दृष्टि से मोसंबी का जूस पित्त बढानेवाला हो सकता है लेकिन कोरोना की चिकित्सा में विटामीन-सी की महत्त्वपूर्ण भूमिका देखते हुए मोसंबी-संतरा आदि नींबू कुल के फलों का कोरोना की चिकित्सा में अवहेलना नहीं कर सकते।

कोरोना असाध्य है, इस तरह की व्यापक भय फैलानेवाली मान्यताओं के बीच बढते हुए रिकवरी रेट ने आशा की किरण जगाई है। मरीज़ों का मनोबल भी इस प्रकार के रोगों की मुक्ति में अहम भूमिका निभाता है। सकारात्मक चिंतन (Positive thinking)ने भी स्वास्थ्य प्रदान करने में काफी असर डाला है। इसलिए शारीरिक व्यायाम, प्राणायाम आदि योगक्रियाओं के से साथ मनोबल बढानेवाले ध्यान का भी कोरोना की चिकित्सा में समावेश होना चाहिए। कफ-वात प्रधान होने के कारण सूर्यप्रकाश का भी इसकी चिकित्सा में महत्त्वपूर्ण स्थान बना है। उचित मात्रा में धूप

का सेवन रोगों की मुक्ति में महत्त्वपूर्ण भूमिका रखता है।

कोविड के कुछ मरीज़ ठीक होकर घर जाने के बाद कुछ समय बाद ही हृदय एवं फेफड़ों की गंभीर शिकायत लेकर वापस आते हैं। ऐसा मुंबई के प्रतिष्ठित केईएम अस्पताल में दिखाई पड़ा। रोगी ठीक होने पर फिर से रोगग्रस्त हो जाए ऐसी हालत में आयुर्वेद इम्यूनिटी बढ़ाने में काफी योगदान दे सकता है। ठीक होने के बाद व्यक्ति 14 दिन एकांत में रहे, रोज़ सिर न धोए, सिर में तेल न लगाए, दूध, सोंठ और पानी मिलाकर ले। अगस्त्य रसायन, षटपल घृत, च्यवनप्राश आदि का योग्य वैद्यों के मार्गदर्शन में सेवन करे तो रोग फिर से कुपित होने से बचा जा सकता है।

पुलिस, डॉक्टर, मेडिकल स्टाफ, किराने वाले, सफाई कर्मचारी आदि को कोरोना संक्रमण का भय ज़्यादा रहता है। इनके संरक्षण एवं रोगप्रतिकारशक्ति बढ़ाने के लिए आयुर्वेद के अनुसार आवंले का प्रचुर सेवन करना चाहिए। आवश्यकतानुसार च्यवनप्राश का भी सेवन कर सकते हैं। कोरोना काल में आयुर्वेद का महत्त्व काफी बढ़ता हुआ दिखाई देता है। अब आवश्यकता है कि आयुर्वेद विशारदों और विद्यार्थियों द्वारा गहन संशोधन के पश्चात महामारियों के उपचार की योग्य व्यवस्था लोगों के समक्ष प्रस्तुत की जाए।

❑

सहलेखक: डॉ. अभय दोशी

सहयोग:

डॉ. लक्ष्मण शर्मा महादेवन
श्री शारदा आयुर्वेद हॉस्पिटल
कन्याकुमारी, तमिलनाडु
+91-4652282239

महामारी एवं संस्कृतियों-सभ्यताओं पर प्रभाव

● डॉ. हिमांशु चतुर्वेदी

वैसे तो संस्कृतियों और सभ्यताओं के इतिहास का अपने मूल में सर्वनाश होना एक औपचारिक गाथा ही मानी गई है, विशेषकर हीगलवादियों द्वारा परंतु ऐतिहासिक स्रोत यदि महामारियों के संदर्भ में खोजे जाएँ तो चकित करने वाले प्रमाण मिलते हैं। ऐसे ऐतिहासिक स्रोत प्राच्य काल से 19वीं शताब्दी तक पर्याप्त मात्रा में देखे जा सकते हैं। इस प्रकार के सभी साक्ष्यों को क्रमबद्ध करके देखने से स्पष्ट होता है कि औपनिवेशिक गाथा में बल प्रयोग के अतिरिक्त इन महामारियों ने परिवर्तन के कारण बनने वाले उत्प्रेरक तत्व के रूप में बृहद भूमिका निभाई और परिणामस्वरूप अनगिनत संस्कृतियों व सभ्यताओं का सर्वनाश किया।

उपरोक्त संदर्भ में यदि प्राप्त दस्तावेजों के अनुसार एक महान प्राच्य साम्राज्य अर्थात 'महान रोमन साम्राज्य' 'पवित्र रोमन साम्राज्य' में कैसे परिवर्तित हो गया, पर विचार किया जाए तो महामारी के संदर्भ में चकित करने वाले तथ्य मिलते हैं। निरंतर प्रश्न हुआ कि प्राच्य रोमन साम्राज्य का पतन क्यों हुआ? अथवा यह गौरवमयी साम्राज्य कहाँ विलुप्त हो गया? इतिहास में इस प्रश्न पर विविध व्याख्यान दर्ज हैं। इनमें से दो व्याख्यान ऐसे हैं जिनका मानना है

कि प्राच्य रोमन साम्राज्य का पतन नहीं हुआ वरन वह ऐसे साम्राज्य में परिवर्तित हो गया जिसे चिह्नित कर पाना ही असंभव हो गया अर्थात उनकी प्राच्य संस्कृति एवं सभ्यता अपने मूल में ही नष्ट हो गई जिसका एक अति महत्वपूर्ण कारक तत्व महामारी बनी। इतिहास में पहली दर्ज महामारी 'जस्टिनियन प्लेग' के नाम से जानी जाती है। राजा जस्टिनियन प्राच्य काल का सवार्धिक महत्वपूर्ण ईसाई धर्म का ध्वज-धारक माना जाता है और प्राच्य रोम के धार्मिक विश्वासों को इसके द्वारा अंधकारमय विश्वास माना गया यानी प्राच्य रोमन साम्राज्य के समाज को एक? पैगन समाज' अर्थात विधर्मी के रूप में चिह्नित किया गया क्योंकि यह समाज बहु ईश्वरवादी था और ईसाई धर्म एकेश्वरवादी। यद्यपि इसके पूर्व रोमन साम्राज्य में ईसाई धर्मावलंबी, जो अत्यंत अल्पमत में थे और रोमन राज्य के प्राच्य धर्मावलंबियों के मध्य रक्तपात होता रहा परंतु ईसाई धर्म को इस राज्य में कभी भी बर्बरतापूर्वक नहीं दबाया गया था जैसा कि साक्ष्य कहते हैं।

प्राच्य रोमन साम्राज्य का पवित्र रोमन साम्राज्य में परिवर्तित होने के अनगिनत कारणों में से ध्यान देने हेतु दो महत्वपूर्ण अकादमी कार्य जर्नल ऑफ रोमन आर्कियोलॉजी (journal of Roman Archaeology) ऐतिहासिक दस्तावेज़ के रूप में देखे जा सकते हैं। इसमें प्रकाशित दो लेख इस संदर्भ में अत्यंत महत्वपूर्ण हैं। पहला काइल हार्पर द्वारा जो ओकलाहामा विश्वविद्यालय से संबंधित है, एवं दूसरा मिशेल मैकार्निक जो हार्वर्ड विश्वविद्यालय से संबंधित है, के द्वारा लिखे गए;हार्पर ने तदुपरांत अपनी पुस्तक The Fate of Rome ë Climate, Disease and the end of an Empire (2017) में इस तथ्य को और भी स्पष्ट किया है। उसके अनुसार 'जस्टिनियन प्लेग' जैसी महामारी ने रोम के सामाजिक ताने-बाने को नष्ट कर दिया। इस महामारी के दौरान यहाँ रह रहे ईसाई समुदाय के द्वारा जिस प्रकार से मृतकों का अंतिम संस्कार करने में भूमिका निभाई उससे क्रिश्चियन धर्म ने अपने प्रभाव छोड़े। परिणामस्वरूप यहाँ की प्राच्य सभ्यता और संस्कृति समाप्त हो गई तथा ईसाई धर्म के उत्थान और प्राच्य रोमन सभ्यता के समापन में यह महामारी निर्णायक सिद्ध हुई।

इस महामारी के दौरान रोमन समाज का अपने पारंपरिक

विश्वासों के प्रति संदिग्ध होना एवं पूर्वी रोम में रह रहे क्रिश्चियन समुदाय द्वारा यथासंभव मदद करना, ज़्यादातर मृतकों को दफ़नाने में, एक नवीन अध्याय प्रारंभ करता है। हार्पर के अनुसार यह महामारी बिखरते रोमन साम्राज्य के ताबूत में अंतिम कील थी। हार्पर एवं मैकार्निक दोनों ही पुरातत्व आधारों पर यह मानते हैं कि यह महामारी यूरोप के इस भाग में भयंकर थी। अत: प्राच्य ईसाई अनुयायियों के लिए यह महामारी अनुकूल साबित हुई परंतु भूमध्य सागर के प्राच्यवासियों के लिए एक काल का अंत।

अत: प्राच्य रोमन सभ्यता जिसकी आलोचना ईसाई धर्म के प्रसार के दौरान एक अंधकार में डूबी हुई सभ्यता और संस्कृति (pagan) बताया गया, जस्टिनियन प्लेग के उपरांत इसे सही साबित करने में बल मिला और रोम एक नए रूप में और विश्वास के साथ 'नवीन प्रबोधित' समाज में परिवर्तित हो गया। अर्थ यह है कि रोम के साम्राज्य का पतन नहीं हुआ अपितु महामारी के कारण उसका स्वरूप एक ऐसी सभ्यता और संस्कृति में परिवर्तित हो गया जिसके लिए यह कहना उचित होगा कि रोमन साम्राज्य का पतन नहीं हुआ वरन वह एक ऐसी संस्कृति में परिवर्तित हो गया जिसके प्राच्य अंश सदैव के लिए नष्ट हो गए और यहीं से उदय हुआ 'पवित्र रोमन साम्राज्य' अथवा 'क्रिस्टेंडम' यानी एक नया राज्य जिसके आधार में रोमन कैथोलिक चर्च सवार्धिक सशक्त संस्था के रूप में उभरी।

क्यों यह कहा गया कि इस महामारी के कारण रोम एक ऐसे साम्राज्य में परिवर्तित हो गया जिसे पहचान पाना ही असंभव हो गया? क्योंकि इस घटनाक्रम के कारण यहाँ होने वाली मूर्तिपूजा की परंपरा, पौराणिक पूजा-पद्धति, पूर्वजों के सम्मान का विश्वास, विभिन्न प्रकार के देवी-देवताओं की उपासना विलुप्त हो गई। आलोचकों के द्वारा कहा गया कि इस विलुप्त से ही प्राचीन रोम का समाज प्रकाश में आ सका।

तदुपरांत उदय हुआ यूरोप की सबसे सशक्त संस्था 'रोमन कैथोलिक चर्च' का और यूरोप परिवर्तित हुआ 'पवित्र रोमन साम्राज्य में', परंतु सदियों पश्चात यूरोप में उपजी एक नई महामारी ने इस संस्था की नींव हिलाने का कार्य किया। अर्थात सशक्त रोमन

कैथोलिक चर्च के विघटन के प्रारंभ का इतिहास भी महामारी से ही जुड़ा हुआ है। 1347 से 1400 के बीच यूरोप की दूसरी बड़ी महामारी, जस्टिनियन प्लेग के उपरांत, जिसे काली मृत्यु अथवा Black death के नाम से जाना जाता है। ऐसे इतिहासकार जो यूरोप केंद्रित नज़रिए से यूरोप के इतिहास को देखते हैं उनका मानना है कि कुस्तुनतुनिया के पतन से ही पुनर्जागरण प्रारंभ हुआ। और वे ब्लैक डेथ से उपजी परिवर्तन करने वाली परिस्थितयों का ख़ास ज़िक्र नहीं करते हैं। वस्तुत: पुनर्जागरण के पूर्व ही रोमन कैथोलिक चर्च के आधारों को महामारी ने हिलाया और वह थी, Black death जो एक बड़ा परिवर्तन लेकर आई। इस महामारी में यूरोप की लगभग २५ फ़ीसदी जनसंख्या कालग्रस्त हो गई और सर्वशक्तिमान चर्च भी इसकी चपेट में आया। कई पादरी काल ग्रस्त हो गए और कई चर्चों को बंद करना पड़ा। अर्थात चर्च की सत्ता को महामारी ने जब चुनौती दी तो चर्च की कई ऐसी मान्यताओं पर बहस शुरू हुई जिन्हें अनैतिक मूल्यों के रूप में देखा जाने लगा। सनद रहे आगे मार्टिन लूथर ने ईश को चुनौती नहीं दी थी अपितु रोमन कैथोलिक चर्च के अनैतिक कार्यों को दी थी। यहाँ से शुरू हुई चुनौती रोमन कैथोलिक चर्च को, जो 16वीं शताब्दी आते-आते उसे विघटित कर देती है। अत: महामारी से जन्मा यह एक और परिवर्तन का महत्वपूर्ण अध्याय है।

महामारियों से जुड़ा इतिहास का एक और महत्वपूर्ण पक्ष अमेरिकी महाद्वीपों में उपनिवेशवाद के फैलाव के संदर्भ में देखा जा सकता है। मूलत: यही लोकप्रिय वैचारिकी मानी गई कि यूरोप की श्रेष्ठ तकनीक और बहादुर कौम ने अमेरिकी महाद्वीपों को उपनिवेशों में परिवर्तित कर दिया। परंतु इसके अन्य कारण भी हैं और आश्चर्यजनक रूप से इन्हें महामारी से जोड़कर देखने की आवश्यकता है। मार्च 2019 में अलेक्जेंड्र कोच तथा क्रिस ब्रिइराली द्वारा लिखित शोध पत्र जो 'क्वार्टरली साइंस रिव्यू' (खंड 207 डी) में प्रकाशित हुआ, में यह प्रकाश डाला गया है कि 1492 में जब कोलंबस अमेरिका पहुँचा (इसके पूर्व यूरोप को अटलांटिक पार भी पृथ्वी का हिस्सा है और यहाँ स्थानीय संस्कृतियाँ हैं, की जानकारी ही नहीं थी) तो स्थानीय जनसंख्या का अनुमान लगभग 60 मिलियन आँका गया

जो विश्व जनसंख्या का लगभग 10 प्रतिशत माना जा सकता है। 16 वीं शताब्दी के मध्य आते-आते यह जनसंख्या 5 से 6 मिलीयन रह गई जिसने उपनिवेशों की स्थापना में बड़ी भूमिका निभाई और स्थानीय संस्कृतियों को यूरोप की क्रिश्चियन संस्कृतियों ने समाप्त कर दिया। यहाँ महामारी को तकनीकी नाम 'वर्जिन सॉइल'(Vergin Soil) सिद्धांत कहा जाता है। अर्थात यूरोप का निवासी जो लंबे समय से सिल्क मार्ग से जुड़ा हुआ था उसकी प्रतिरोधक क्षमता इनफ्लुएंजा, मलेरिया इत्यादि बीमारियों से लड़ने को पर्याप्त थी। परंतु अमेरिकी निवासी की प्रतिरोधक क्षमता इनसे बचने की नहीं थी। अर्थात यूरोपीय बीमारियाँ यहाँ के स्थानीय निवासियों के लिए भारी संख्या में मृत्यु का कारण बनीं। अत: यह कहना अतिशयोक्ति नहीं होगी कि अमेरिका में स्थानीय लोगों को यूरोपीय तलवार ने जितना नुकसान नहीं पहुँचाया उससे कहीं अधिक यूरोप से आए हुए कीटाणुओं ने पहुँचाया। इस प्रकार की महामारी और स्थानीय संस्कृति के लुप्त होने का सबसे सशक्त उदाहरण मेक्सिको है। हरमन कोर्ट ने जब मेक्सिको को उपनिवेश में परिवर्तित करने की प्रक्रिया शुरू कि उस समय यहाँ की जनसंख्या लगभग 10 से 15 मिलियन आँकी जाती है। यह लगभग 1512 से 1562 के मध्य मात्र ढाई से तीन मिलियन के बीच रह गई। कारण था यूरोपीय बीमारियाँ जिन्हें 'वर्जिन सॉइल' के लोग बर्दाश्त नहीं कर पाए। यहाँ यह भी कहना रोचक होगा कि महामारी के ही कारण आगे चलकर 1804 में हैती (Haiti) दक्षिणी अमेरिकी महाद्वीप का प्रथम स्वतंत्र राष्ट्र बना क्योंकि नेपोलियन की बड़ी सेना यहाँ 'यलो फ़ीवर'(Yellow Fever) का शिकार हुई जो मच्छरों से फैलता है। हैती के मूल जनों की इसकी प्रतिरोधक क्षमता थी परन्तु फ्रांसीसिय१ों की नहीं, अत: इन सेनाओं का विनाश महामारी से हुआ और हैती को स्वतंत्र अस्तित्व प्राप्त हुआ।

उपरोक्त अलोक में यह कहना समीचीन होगा की विश्व में कई ऐसे बड़े परिवर्तन हुए जिनमें महामारियों ने अहम भूमिका निभाई तथा संस्कृतियों एवं सभ्यताओं पर ऐसे प्रभाव डाले कि वे समाप्त ही हो चलीं। इसके अतिरिक्त ऐतिहासिक दृष्टिकोण से यह विवेचना भी की

जा सकती है कि प्राच्य रोम संस्कृति को 'पैगन' कहने की जो गाथा निर्मित की गई वह कई अन्य संस्कृतियों के लिए 19वी शताब्दी के अंत तक दोहराई जाती रही और भारतीय समाज तथा संस्कृति के लिए भी 19वीं शताब्दी मे यूरो केंद्रित आलोचक मंडलों के द्वारा भारतीय समाज के प्रबोधन का महत्वपूर्ण मार्ग पश्चिमी मूल्यों के आधार पर ही सुझाया गया। दिलचस्प है कि रोमन प्राच्य मूल्य और भारतीय परंपराओं में अत्यधिक समानताएँ पाई जाती है। अत: 19वीं शताब्दी के दौरान भारत में आने वाली महामारियों को भारतीय संस्कृति से जोड़कर दिखाने का प्रयास भी किया गया जैसे भारतीयों की कई धार्मिक मान्यताएँ व पर्व इन महामारियो को न्यौता देने में कारक तत्व है, का मिथक गढ़ा गयी उदाहरण के तौर पर 1857 के पश्चात यूरो केंद्रित लेखकों का महाकुंभ पर आक्रामक होना आवश्यकता है, ऐतिहासिक तथ्यों को समझने की कि कैसे महामारियों ने कई संस्कृतियों और सभ्यताओं के इतिहास को प्रभावित ही नहीं किया अपितु मूल से ही समाप्त कर दिया।

❑

काव्य दृष्टि

● डॉ. भाग्यश्री वर्मा

अंत्येष्टि

● टी.एस. एलियट

महीना अप्रैल का
बेहद निष्ठुर,
मरुभूमि की कोख से जनमे
लिली के फूल महकाता
कामना और यादों के मिश्रण घोलता हुआ,
निर्जीव हो चुकी जड़ें
बसंत की बरखा से सींचता
ठंड के मौसम ने दी है
ये तपन हमें
धरती को छिपाकर विस्मृति की बर्फीली चादर में
सूखे तिनकों से
सूक्ष्म जीवों का पोषण करता हुआ,
गर्मियों ने चौंका दिया हमें
स्टानबरगसी पर बरस कर बारिश की इक झड़ी में
इन खंभों की आड़ में रुकना ही पड़ा हमें

सूरज की रोशनी में
चलते हुए हाफ्टगारटन से
और बातें की हमने फुरसत में, काफी भी पीते हुए....!

ठमुझे कहीं रशियन ना समझ लेना तुम
मैं तो लिथुआनिया की हूँ
मूलत: जर्मन...

और जब हम छोटे थे
मेरे ज़मींदार चचेरे भाई के घर में रहते थे,
वह मुझे हिमचक्री पर ले गया और घबरा गई थी मैं
उसने कहा मेरी! कसकर पकड़ लो
और तराईख में चले गए हम...!
परबतों के बीच वहाँ
मुक्त सा हो जाता मन जहाँ...
पढती रहती हूँ मैं देर रात तक
और घूम आती हूँ दक्षिण
जब मौसम होता है ठंड का...

ये जड़ें कैसे जकड़ लेती हैं
कैसे बढ़ने लगती हैं शाखाएँ
इन पथरीली झाड़ियों में भी?

हे मानवपुत्र,
तुम नहीं बता सकते
नहीं समझ पाओगे कभी
क्योंकि तुमने केवल
खंडित प्रतिमाओं के ढेर देखें हैं
जिनपर सूरज की रोशनी भी
लगती है ठोकर की तरह

और मरा हुआ वृक्ष दे नहीं सकता छाया
ना ही कोई रात का कीड़ा पलभर की राहत...!
और कोई सूखा हुआ पत्थर
नहीं जल का ज़रा भी स्वर ...
वहाँ छाँव है उस लाल चट्टान के नीचे
(आ जाओ इसी लाल चट्टान के नीचे तुम भी)
और मैं तुम्हें कुछ ऐसा दिखाऊँ
जो बिल्कुल भिन्न हो तुम्हारे पीछे छिपी हुई
सुबह की छाया से
या आगे आकर तुमसे टकराती हुई तुम्हारी
संध्या की छाया से
मैं दिखा दूँ तुम्हें वही डर
मिट्टी में मुट्ठीभर

खुली ताज़गी हवाओं में बहती है
मेरी आयरिश बिटिया
क्या तुम्हें किसी की प्रतीक्षा रहती है?

एक वर्ष पहले मुझे
तुमने दिए थे
यहीं पुष्प हियासिंथ के
जिनकी वजह से उन्होंने मेरा नाम ही रख दिया था
हियासिंथ गुड़िया

फिर भी जब हम लौट आए
हियासिंथ के बाग़ीचे से
तुम्हारे हाथों में भरे थे इतने सारे फूल
और तुम्हारी केशों में भरा पानी
मैं कुछ कह भी न पाया
और आंखें रह गई पथराई-सी मेरी

ना जीवित रहा मैं
और ना ही मर सका
और मुझे कुछ ख़बर ही न रही,
देखता रह गया
होता हुआ रोशनी में उजागर मन
बिल्कुल ख़ामोश....

रीत चुका सा, खाली और मायूस
ये बहता हुआ सागर....

मादाम सोसोस्ट्रीस, मशहूर जोतिषविद्या तज्ञ
जिसे बहुत बुरी तरह से ठंड लग गई थी
फिर भी पाई उसने ख्याति
सबसे सयानी
योरोपीय महिला
जमाती हुई निर्दयी पत्तों को
कह रही थी यहाँ वो,
ये रहा तुम्हारा पत्ता
डूबता हुआ फ़िनीशियन मुसाफ़िर

(वह दर असल मणि है, जो कभी उसकी आंखें थीं, देखो!)
ये रही बेलाडोना, चट्टानों की मलिका,
घटनाओं की देविका...
ये है तीन छड़ियों वाला बंदा
और ये रहा चक्री पहिया
और एक आँख वाला साहूकार,
और यह पत्ता दिखता है रिक्त लेकिन
कुछ रखे चला है अपनी पीठ पर
जिसे देखने की अनुमति नहीं मुझे
सूली पर लटकता हुआ मनुष्य तो

नहीं दिखाई दिया मुझे
डरना होगा पानी में डूबकर मर जाने से
देख रही हूँ भीड़ लाखों लोगों की
वलय में गोलाकार चलती हुई
धन्यवाद, अगर आप देख पाए हैं,
डियर मिसेज इक्वीटोन
उसे कहना मैं स्वयं
ले आऊँगी जन्मपत्री उसकी
आजकल सभी को जरा
सावधान ही रहना चाहिए।

मायावी शहर

ठंडे पहर के रक्तिम कोहरे जैसा
इतनी भीड़ लंदन के पुल पर से दौड़ लगाती हुई
इतने सारे लोग
मैंने कभी सोचा नहीं था
मौत इतनों को खा जाएगी एकदम
आहें, रुकी हुई और
रह रह कर छोड़ी गईं
और हर एक की आंखें अपने पाँवों पर टिकी हुई
दौड़ में किंग विलियम रोड पर
ऊपर नीचे लुढ़कते हुए वहाँ तक, जहाँ
सेंट मेरी वुलनौथ की नज़रें समय नांपती
नौ बजने के आखिरी टनटन की
मरी हुई आवाज़ के साथ
वहीं मैंने देखा चेहरा किसी का जाना पहचाना
और रोक लिया उसे पुकारते हुए
स्टेटसन,...!
तुम ही थे मायली की यात्रा में

मेरे साथ जहाज़ पर,
वो शव तुम्हारे आँगन में
पिछले साल दफ़नाया था तुमने
क्या वहां अंकुर फुटने लगे हैं?
इस वर्ष आएगी बहार?
या सिकोड़ दिया है
उसका आवरण ठंड के कोहरे ने?
अरे तुम इस कुत्ते को दीवार से परे बांधा करो
दोस्त है यह मनुष्यजनों का
गड़ाने लगा नाख़ून ज़मीन में तो
रख देगा फिर से खोद कर!
तुम पाखंडी पाठक,
मेरे जैसे हो बिल्कुल
मेरे ही भाई ...!

❑

दृष्टि

थॉमस स्टर्नस् एलियट अमरीकन कवि हैं जिन्हें ब्रिटिश पहचान भी मिली। वे नाटक और समीक्षा के भी बहुत महत्वपूर्ण लेखक और विचारक हैं। हम तो यह भी मानते हैं कि आधुनिकता की परिभाषा की जाए तो एलियट का साहित्य ही परिपक्व उदाहरण हो सकता है। 1922 में प्रकाशित उनकी सर्वाधिक रहस्यमयी कविता 'द वेस्टलैंड' (जिसका अर्थ मरुभूमि होता है- ऐसी बंजर ज़मीन जहाँ कुछ नहीं उगाया जा सकता बल्कि जो उग जाए वह भी जीवित नहीं रह पाता) अपनी ही तरह की एक अतिसुंदर रचना है। यह विश्व है जैसे कोई बंजर ज़मीन हो और मनुष्य का संघर्ष जीवन के हर पड़ाव पर सफलता की आस पर असफलता के फंदे से झूल रहा हो। इस कविता का यह शीर्षक समूची दुनिया का प्रतीक बनकर ऐसा चित्रण ज़ाहिर करता है कि कविता पढ़ने समझने से पूर्व ही पाठक जान सकते हैं कि इस रचना का विषय मृत्यू, जीवित रहने का संघर्ष और नश्वरता के साथ-साथ शाश्वत जगत को समझने की छटपटाहट का वर्णन है।

इस दीर्घ कविता का पहला भाग है 'द बरियल ऑफ़ द डेड' - अर्थात मृतक की अंत्येष्टि।

अप्रैल का महीना अतिनिष्ठुर कहा गया है क्योंकि यह फूलों के खिलने का मौसम होता है और गर्मी में बारिश की बौछार से मन को विचलित करती इच्छाएँ और स्मृतियाँ अजीब-सी बेचैनी उत्पन्न कर देती हैं। कवि की यादों में बसी ख़ूबसूरत बातें, किसी सुंदर नारी के आत्मकथन करते हुए, अपनापन जताते शब्द और पहचान से जुड़ी भौगोलिक स्थानों के साथ ही बचपन की बातें यूँ चित्रित हो जाती हैं जैसे कोई रंगमंच पर अंकित किरदारों को देख रहा हो।

आसपास की झाड़ियों में फूट पड़ी शाखाएँ और फैलती हुई जड़ें भी मानो कुदरत के अटल जन्म का नियम ही सिद्ध कर रही हों।

कवि जानता भी है कि मरुभूमि के इस हिस्से में खंडित प्रतिमाओं के ढेर, मरे हुए वृक्ष और निरर्थक आवाज़ों के बीच एक डर अभी भी जीवित है जो सुबह की सांध्यछाया से भिन्न मिट्टी में समाया हुआ है-जिसे शायद आप मुट्ठी में उठाकर भी महसूस कर पाते हो।

कुछ और स्मृतियाँ भी-पुष्प देने लेने की-मन के बगीचे से महकने लगती हैं। ख़ामोशी नादानी नहीं होती और नादानी में अभिव्यक्ति का जो प्रयत्न हो वह कुछ खाली खाली सा प्रतीत होता है-जैसे शब्दों के बीच की खाली जगह-या बहते हुए सागर का खालीपन।

एक भविष्यवक्ता थी मादाम सोसोस्ट्रीस जिसने अपनी ख्याति में भी ज्योतिष को बढ़ावा दिया-इंसानों के घटित-अघटित प्रसंगों का वर्णन करती रही-पत्तो की आकृतियों में वह जैसे भूत और भविष्य का चित्र ही बना देती थी।

शहर कोई भी मायावी ही होता है और लंदन का वह पुल जो बाल-कविता में गिर रहा था, (Landon bridge is falling down, falling down, falling down My fair Lady!) अभी भीड़ भरा है। दरअसल एलियट ऑफ़िस के रास्ते उस पुल पर रुक कर हमेशा दौड़ती हुई भीड़ को देखा करते थे। उन्हें यही ख़याल आता था-

इतने लोग एक साथ कहाँ जा रहे हैं दौड़ते हुए-और ये भीड़ आई कहाँ से-? उन्हें शहर का ये हिस्सा इतना मायावी लगता कि वे हर शख़्स के चेहरे पर एक ही भाव देख पाते-निराशा और मजबूरी का भाव! और अचानक कोई पहचाना-सा शख़्स भी मिल जाता।

एक और पुरानी याद उभर जाती-जहाज़ का सफ़र, किसी का किसी की लाश को दफ़न करने की विधि और कोई कुत्ता भी-उसी जगह पर भौंकते हुए नाखूनों से ज़मीन कुरेदता हुआ-ये मरुभूमि है क्योंकि इसमें लाश दफ़न है-और कुछ उगने की प्रतीक्षा में-सवाल भी उग जाते हैं-क्या वहाँ अंकुर फूटने लगे हैं? इस वर्ष आएँगी बहारें! अंत में कवि का पाठक को ही पाखंडी कह देना-और यह भी कहना कि तुम बिलकुल मेरे ही जैसे हो-मेरे भाई हो-मरुभूमि की समानता ही सिद्ध करता है। यहाँ सारे चेहरे मातम मनाते हुए भाई के चेहरे जैसे निराश, उदास, मजबूर दिखाई देते हैं यही तो है जीवन की विधि-मृत जनों के शव दफनाने की विधि-और आज के कोरोना आक्रमण के समय में एलियट का यह चित्रण मानो पुराना नहीं बल्कि अभी का वर्णन है। मुंबई में भी ऐसे पुल हैं जो गिरने वाले हैं लेकिन भीड़ दौड़ रही है-यहाँ से वहाँ-वहाँ से न जाने कहाँ?

❑

किताबनामा

दुनिया इन दिनों

● डॉ. अभय दोशी

कोरोना एक ऐसी विभीषिका है, जो भय का साम्राज्य फैलाती हुई मनुष्य की स्वाभाविक प्रवृत्तियों को बड़े पैमाने पर रोक देती है। कोरोनासंक्रमितों की पीड़ा तो असह्य होती ही है, मगर साथ में संक्रामक होने के भय से सामान्य मनुष्य की भयग्रस्तता उसे और भयानक बना देती है। इसकी संक्रामकता को देखते हुए विश्वभर की राज्यसत्ताओं ने 'लॉकडाउन' की घोषणा कर दी। इस लॉकडाउन से आर्थिक मंदी गहराने से मध्यवर्ग एवं निर्धन वर्ग की समस्याओं में काफी बढ़ोतरी हुई। भारत जैसे देश में हजारों श्रमिक अपना कुटुंब-परिवार छोड़कर रोज़ी-रोटी की खोज में मुंबई, दिल्ली, अहमदाबाद, सूरत, हैदराबाद जैसे महानगरों में आते हैं। अचानक घोषित हुए लॉकडाउन के कारण ये श्रमिक अपने परिवार के पास पहुँच न पाए और महानगरों में रोज़ी-रोटी का आधार अस्त-व्यस्त हुआ। कई मज़दूर मीलों चलकर अपने घर पहुँचे। इसी क्रम में कई एक कालकवलित भी हुए। कोरोना की इस त्रासदी ने साहित्यकार के संवेदनशील चित्त को द्रवित किया। भारत के कई साहित्यकारों ने इस विषय पर अपनी कलम चलाई।

इस समय मुद्रित माध्यमों की सहज उपलब्धि न होने के कारण

यह साहित्य फेसबुक, वाट्सैप आदि सोशल मीडिया में ज़्यादा फैला। अप्रैल-मई के कठोर लॉकडाउन के बाद जून से अनलॉक काल में मुद्रित साहित्य में भी कोरोना विषयक साहित्य उपलब्ध होने लगा। इसी शृंखला में भोपाल (मध्यप्रदेश) से प्रकाशित सुधीर और सरिता सक्सेना के संपादकीय कर्तृत्व में प्रगट होता हुआ 'दुनिया इन दिनों' नामक समाज, साहित्य एवं संस्कृति की मीमांसा करता हुआ 'जून-जुलाई' का संयुक्त विशेषांक जो 'कोरोना का उत्तरकांड' नाम से प्रकाशित हुआ है,जिसमें कोरोना की साहित्यिक,

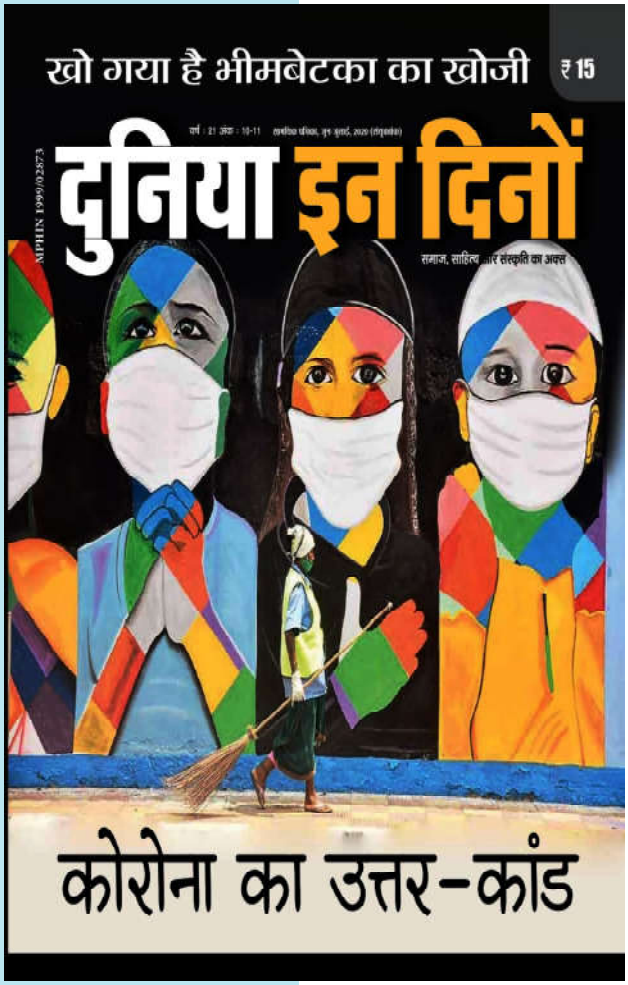

राजकीय एवं समाजशास्त्रीय मीमांसा उल्लेखनीय है। संपादकीय 'अपनी बात' में संपादिका ने दिनकर कुमार नाम के कवि की रचना रखी है। यह कविता लॉकडाउन के क्रूर यथार्थ को प्रखर स्वर में प्रकट करता है। साथ में ही संपादिका अगस्त का अंक कोरोना काल में लिखी हुई कविता पर होगा, इस बात की उद्घोषणा करती हैं। आगामी अंक का संभावित मुखपृष्ठ जो मोनालिसा मास्क में सज्ज है, इस तरह दिखाया है। सुंदरता चाहे जितनी मनमोहक हो, मगर रोग के भय से उसकी कोई औकात नहीं होती। प्रधान संपादक डॉ. सुधीर सक्सेना का विस्तृत लेख (From the desk of editor) 'कोरोना काल में सोशल मीडिया पर साहित्य' समकालीन कोरोना विषयक साहित्य का विहंगावलोकन करता है। मुद्रित माध्यम के अभाव में सोशल मीडिया पर कोरोना विषयक साहित्य का प्रचार विशेष रहा। इस समय में कविता की बहुलता को रेखांकित करते हुए संपादक कहते हैं-

''चुनौती सबके सामने थी मगर इस चुनौती को साहसपूर्वक कुबूल करने का जतन किया कविता ने। कविता यूँ भी अनुभूतियों की श्रेष्ठतम कलात्मक अभिव्यक्ति है। वह आस्था है, यकीन है, प्रार्थना है, सांत्वना है, आक्रोश है और उच्छ्वास भी।''

कोरोना विषयक कविताओं में अपने युग में व्याप्त प्रबल भय की अभिव्यक्ति किस तरह हुई है, उसे दर्शाने संपादक कविता की पंक्तियाँ उद्धृत करते हैं-

''कोई छींकेगा सहसा। और हम डर जाएँगे।
यक ब यक कोई गले लगाएगा तपाक से।
और हम डर जाएँगे। यत्र तत्र सर्वत्र।
क्या भय और मनुष्य की जुगलबंदी के सूत्रपात के लिए।
याद किया जाएगा। इतिहास में।
सन बीस सौ बीस ईसवी। नामुराद।''

कोरोना के वास्तविक भय के साथ-साथ समूह माध्यम एवं राजतंत्र द्वारा लादी गई भय की मानसिकता, यह कविता अच्छी तरह से अभिव्यक्त करती है। सोशल मीडिया पर प्रकाशित कोरोना विषयक कविताओं का नीरज कुमार मिश्र ने एक संकलन तैयार

किया है। जिसका नाम रखा है, 'प्रेम एक वाइरस है।' इस संकलन के संपादक नीरज कुमार मिश्र की श्रमिकों की व्यथा को वाणी देती हुई कविता की पंक्तियाँ हैं-

''जब सोने के लिए। करता हूँ आँखें बंद।
आँखें बदहवास पहुँच जाती हैं।
पटरियों पर बिखरी रोटियों के पास।''

इसी तरह राकेश रेणु की कविता गाँव के घर की भावनात्मक स्मृतियों को सँजोए हुए श्रमिकों के विस्थापन की पीड़ा को उभारता है। कोरोना काल की कविताओं में हताशा है, तो साथ में नए जीवन की उम्मीद की अभिव्यक्ति भी है। स्वयं सुधीर सक्सेना अपनी एक कविता में कहते हैं-

''कहते हो क से काश। मैं कहता हूँ कोशिश।
तुम कहते हो क से कौव्वा। मैं कहता हूँ कोयल।
तुम कहते हो क से कोरोना। मैं कहता हूँ कविता।
मित्रों कितनी भिन्न है। हमारी और तुम्हारी वर्णमालाएँ।''

संपादक ने कोरोना काल में सोशल मीडिया के माध्यम से हुए विविध काव्य संवाद और प्रस्तुति का भी जायज़ा लिया है।

कविता के साथ संपादक ने कोरोना काल में लिखी चार कहानियों की चर्चा की है। पंकज मित्र की 'कोरोना के ऐन पहले' कहानी में किस तरह कोरोना काल की शब्दावली क्वारंटाइन, सोशल डिस्टेंसिंग, सेनेटाइजर, आइसोलेशन और लॉकडाउन उपशीर्षकों में कहानी का तानाबाना गूँथा गया है, इसकी चर्चा की है। इसी तरह आशीष त्रिवेदी द्वारा 'सुगना' नामक नाटक भी लिखा गया है। सुधीर सक्सेना ने इस विस्तृत आलेख के माध्यम से कोरोना काल में सोशल मीडिया पर प्रगट हुए साहित्य की समीक्षा की है।

दूसरा आलेख डॉ. राकेश पाठक का है, जो कहते हैं कि वास्तविक कोरोना का उत्तरकाल तो आना बाकी है। यह वास्तव में सही है। लॉकडाउन अनलॉक होने से कोरोना अदृश्य नहीं होता। यह कोरोना के बाद मनुष्य की मनोदशा कैसी रहेगी इसका विश्लेषण करता है। साथ में विश्व के विविध राष्ट्रों के छिन्नभिन्न

अर्थतंत्र की चिंता जताता है। वैश्विक अर्थव्यवस्था में चीन के बढ़ते हुए प्रभुत्व तथा नए ध्रुवीकरण की चर्चा की है।

जगदीश्वर चतुर्वेदी का छोटा सा लेख प्रतिपादित करता है कि कोरोना वायरस का उद्भव स्थान चीन नहीं अमेरिका की बायोवेपन लैब है। अमेरिकन बायोवेपन लैब से बाहर निकले वायरस से प्रभावित अमरिकी सैनिक वुहान (चीन) में विश्वसैन्य खेल समारोह में गए थे। इसीसे चीन के वुहान में वायरस फैला ऐसा जगदीश्वर चतुर्वेदी का दावा चौंकानेवाला है।

इस अंक में स्कंद शुक्ल का लेख है जो कोरोना जैसे वायरस के पशु से मनुष्य में संक्रमण के तरीके को वैज्ञानिक आधारों के साथ सरलता से समझाता है। साथ में चीन में खुली हुई वन्यपशुओं की मांस की मंडी का उल्लेख, विश्वभर में व्याप्त भ्रष्टाचार एवं स्वार्थी रीति-नीति को उजागर करता है। प्रकृति के प्रति हमारी बेरहमी कितनी घातक हो सकती है,इसका निर्देश भी इस लेख में मिलता है। रुचि भल्ला की लॉकडाउन डायरी सोलापुर और फलटन विस्तार में लॉकडाउन के दौरान फैली हुई शून्यता को रेखांकित करती है। लेखिका की शैली काव्यात्मक गद्य का अनुभव कराती है। इस मासिक में कोरोना की विशेष सामग्री के साथ-साथ विविध विषयों की रोचक वाचन सामग्री भी उपलब्ध है।

राजशेखर व्यास द्वारा लिखा गया लेख 'खो गया है भीमबेटका का खोजी' उज्जैन के सुप्रसिद्ध पुरातत्त्ववेत्ता, इतिहासकार डॉ. विष्णु श्रीधर वाकणकर के प्रति श्रद्धासुमन अर्पित करता है। राजशेखर व्यास ने डॉ. वाकणकर के साथ अपनी बाल्यावस्था के स्नेह स्मरण और मधुर हास्य प्रसंगों से इतिहासविद का मानवीय पक्ष उजागर किया है साथ ही शकवर्ती कार्य उज्जैन की पुरातात्त्विक खुदाई और खुदाई से प्राप्त अमूल्य मूर्तिसंचय की बात की है। विक्रम के समय निर्धारण एवं कृतसंवत के बारे में की गई खोज का भी ज़िक्र किया है। लुप्त सरस्वती नदी की खोज के अभियान में भी उनका योगदान महत्त्वपूर्ण रहा है। एक महत्त्वपूर्ण पुरातत्त्वविद के बारे में करीबी लोगों की श्रद्धांजलि वास्तव में भावना एवं तथ्य दोनों दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण है।

भारत की बाघकथा को वर्णित करते हुए लेख में किस तरह मुग़लों और बाद में रीवा, सरगुजा जैसे देशी राज्यों में सबके अस्तित्व पर खतरा पैदा किया, इसका विस्तृत वर्णन किया है। आज़ादी के बाद इंदिरा गांधी का बाघ बचाने का अभियान और अभयारण्यों में बाघ बचाने में किस तरह योगदान किया, इसका ब्यौरा जयराम शुक्ल का यह लेख देता है। साथ में बहुलाचौथ की गाय और बाघ के बीच में वचनपालन से बने भाई-बहन के रिश्ते की लोककथा प्रस्तुत करके वन्यपशु एवं सभ्य संस्कृति के सहअस्तित्व की संकल्पना को पुनर्जीवित करने पर बल दिया है।

अन्य लेखों में विक्रम जोशी (पत्रकार) के खून का झिंझोड़नेवाला अहवाल उल्लेखनीय है। नागा समस्या एवं नागालैंड के बारे में प्रस्तुत लेख भी विचारोत्तेजक है। 'पेरियार का उत्तर भारत से नाता' हमारा भारत इतर राज्यों से खासकर दक्षिणी राज्यों की वैचारिक संपत्ति के प्रति उदासिनता का वेधक आलेख है। साथ में प्रेमचंद का भाषा चिंतन, तुलसी का मूल्यांकन करता हुआ लेख, कवि प्रेमनंदन का परिचय कराता हुआ लेख एवं प्रसिद्ध विद्वान सूर्यनारायण व्यास के कवि व्यक्तित्व का परिचय कराता हुआ लेख भी शामिल है। नई शिक्षा नीति के बारे में विस्तृत विचार विमर्श भी मिलता है तो साथ में कांग्रेस के भविष्य के बारे में और वंश परंपरागत नेतृत्व के बारे में भी एक लेख में धारदार चर्चा की गई है। विनोद दुआ पर उनके साथी राजेश बहल का लेख टीवी पत्रकारिता में विनोद दुआ के योगदान का परिचय करवाता है। कुल मिलाकर 'दुनिया इन दिनों' के जून-जुलाई अंक में काफी वैविध्यपूर्ण एवं विचारोत्तेजक सामग्री का समावेश हुआ है। साहित्य, पत्रकारिता, पुरातत्त्व, समसामयिक राजकीय प्रवाह और अर्थकारण की मीमांसा से समृद्ध यह पत्रिका कोरोना काल में बदलती साहित्य एवं जीवन की गतिविधियों का परिचय कराता है।

❑

रचनाकार

डॉ. मंगेश बनसोड
लोकप्रिय नाट्यकर्मी एवं वरिष्ठ सहायक प्राध्यापक,
थिएटर्स आर्ट, मुंबई विश्वविद्यालय
mangeshbansod@gmail.com

के.एन.पणिक्कर
औपनिवेशिक भारत के वैचारिक इतिहास के विशेषज्ञ
पूर्व प्रोफ़ेसर, इतिहास विभाग
जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय, नई दिल्ली
पूर्व कुलपति, शंकराचार्य विश्वविद्यालय, केरल
सुप्रसिद्ध इतिहासकार
knpanikkar@gmail.com

डॉ. अभय बंग
ख्यातिलब्ध चिकित्सक
गांधीवादी चिंतक
search.gad@gmail.com

डॉ. कृष्णकुमार मिश्र
असोशिएट प्रोफ़ेसर
होमी भाभा विज्ञान शिक्षा केन्द्र
टाटा मूलभूत अनुसंधान संस्थान (डीम्ड यूनिवर्सिटी)
वी. एन. पुरव मार्ग, मानखुर्द, मुंबई-400 088
ईमेलः vigyan.lekhak@gmail.com

डॉ. सुचिता कृष्णप्रसाद
पूर्व अध्यक्ष एवं सहयोगी प्राध्यापक, अर्थशास्त्र विभाग
एलफिंस्टन महाविद्यालय, मुंबई
असंगठित महिला श्रमिकों एवं मिल मजदूरों की
समस्याओं की विशेषज्ञ
drsuchk@gmail.com

श्री. श्रेयांश दोशी
डी.वाय.पाटिल संकुल ऑफ आयुर्वेद
तृतीय वर्ष-BAMS
shreyans1623@gmail.com

डॉ. हिमांशु चतुर्वेदी
प्रोफ़ेसर
इतिहास विभाग
दीनदयाल उपाध्याय विश्वविद्यालय
गोरखपुर
h.chaturvedi111@rediffmail.com

डॉ. भाग्यश्री वर्मा
असोशिएट प्रोफ़ेसर
अंग्रेज़ी विभाग
मुंबई विश्वविद्यालय
bhagyashreemam@gmail.com

डॉ. अभय दोशी
असोशिएट प्रोफ़ेसर
गुजराती विभाग
मुंबई विश्वविद्यालय
abhaydoshi9@gmail.com

परिशिष्ट

शोध संदर्भ निर्देश

इससे पहले कि शोध-प्रपत्र में उद्धरण देने संबंधी निर्देश दिए जाएँ, शोध-प्रपत्र की वर्तनी के बारे में कुछ महत्त्वपूर्ण मुद्दे स्पष्ट करना आवश्यक जान पड़ता है।

- शोध-प्रपत्र देवनागरी लिपि में आकृति या यूनिकोड के 12 फॉन्ट आकार में टंकित रूप में ही स्वीकार किए जाएँगे।
- क्रियाओं में स्वरों का प्रयोग किया जाना चाहिए।
  जैसे- कहिए, चलिए, गाएँ, गई
  न कि- कहिये, चलिये, गायें, गयी
- संयुक्त अक्षर यथासंभव जोड़कर ही लिखें
  जैसे- पद्धति, दृश्य
  न कि- पद्धति, दृश्य
- इंडो अरबीक रूप का प्रयोग करें-
  1, 2, 3, 4, 5....
- अर्धअनुनासिक में चंद्रबिंदु (ँ) का ही प्रयोग करें। अनुस्वार (ं) का नहीं।
  जैसे- भाँति, चाँद, गाँव
  न कि- भांति, चांद, गांव
- अंग्रेज़ी और उर्दू शब्दों में नुक़्ते का प्रयोग अवश्य करें।
  जैसे- ग़ज़ल, क़ैद, ज़रा, कफ़न
  न कि- गजल, कैद, कफन

उद्धरण संबंधी निर्देश

किताबों के उद्धरण

- किताबों की सूची प्रपत्र के अंत में अकारादि क्रम में दी जानी चाहिए।
- यदि एक ही लेखक की पुस्तक से उद्धरण लिए गए हों तो इस तरह लिखे जाएँगे-

  दुबे श्यामचरण, 1996, भारतीय ग्राम, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ.95
- यदि दो लेखक हों तो-

  मालशे मिलिंद, तथा जोशी अशोक, 2007, आधुनिक समीक्षा सिद्धांत, मौज प्रकाशन, मुंबई
- और कई लेखक हों तो-

  बिपिनचंद्र, अमलेश त्रिपाठी, बरुण दे, 2013, नेशनल बुक ट्रस्ट, नई दिल्ली
- यदि विभिन्न रचनाकारों के लेखों का संपादित संग्रह हुआ तो-

  फॉस्टर जॉन बेलेमी तथा वुड एलन मिकसिन्स (सं.) 2007, इतिहास के पक्ष में, ग्रंथशिल्पी (इं.) प्रा.लि.
- शोध-प्रपत्र में विशिष्ट पृष्ठ से उद्धरण देते हुए इस प्रकार लिखें-

  (दुबे 1996, 15), (मालशे तथा जोशी, 2007, 95)
  (फॉस्टर तथा वुड 2007, 105)

- किसी पत्रिका के लेख से उद्धरण देना हो तो-

  झा कमलानंद 2019, नीति और नीयत, समयांतर, वर्ष 51-अंक 1 (अक्टूबर): 33
- अख़बार से उद्धरण देना हो तो-

  चाँदोरकर संजीव, 'करोना ग्रस्त विदेशी गुंतवणूक', लोकसत्ता, मुंबई, 12 अगस्त 2020
- इंटरनेट से ली गई सामग्री का संदर्भ इस तरह दिया जाना चाहिए।

  पटेल, विभूति, 'गांधीजी एंड एंपावरमेंट ऑफ़ वीमेन',

  www.mkgandhi.org/article/women em-powerment

  9 जुलाई 2019 को देखा गया।
- इसी तरह यूट्यूब तथा सिनेमा से उद्धरण दिए जा सकते हैं।
- साक्षात्कार, पत्रव्यवहार, फोन या सामाजिक माध्यमों के ज़रिए किए गए वार्त्तालाप व संदेशों का भी संदर्भ के रूप में प्रमाण सहित उपयोग किया जा सकता है।